प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर

लागत का ब्योरा

कागज़	३००)
छपाई	२९५)
बाइंडिंग	५५)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	६००)
	१२५०)

प्रतियाँ २०००
एक प्रति का लागत मूल्य ।।=)

ग्राहक नम्बर

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य प्रेस, अजमेर

निवेदन

गत महायुद्ध के समय सारे संसार में जो खलबली मची थी, वह और भी अधिक व्यापक होकर अब तक किसी न किसी रूपमें सब जगह वर्तमान है। न तो योद्धा राष्ट्र ही अभीतक शान्ति और सुख का मुख देख सके हैं और न संसार के अन्य राष्ट्र तथा देश ही ठिकाने आ सके हैं। बल्कि सच पूछिए तो युरोपीय महायुद्ध के बाद से देशों की अवस्था और भी विकट हो गई है। संसार के सामने अनेक नई नई और जटिल समस्याएं उपस्थित हो गई हैं। गोरे योद्धा राष्ट्रों की दुर्दशा तो बहुत अधिक बढ़ गई है। उन्हें एक ओर तो घराऊ पारस्परिक झगड़ों का निपटारा करना पड़ता है और दूसरी ओर अपने अधीनस्थ प्रदेशों के उपद्रव और विद्रोह शान्त करने पड़ते हैं। महायुद्ध के समय उन्होंने अपने अधीनस्थ देशों को जो आशाएं दिलाई, उनके फलवती न होने के कारण विजित देश असन्तुष्ट हो कर सिर उठा रहे हैं। साथ ही महायुद्धों के कारण उनको विस्तृत संसार का बहुत कुछ ज्ञान हो चुका है और वे अपनी वर्तमान हीन अवस्था बिलकुल बदल डालना चाहते हैं। मानो सारा संसार एक बड़े कड़ाहे में पड़कर गल रहा है। उसका पुराना स्वरूप धीरे धीरे नष्ट होता जा रहा है और उसके नये सांचे में ढलने की तैयारियां हो रही हैं।

संसार परिवर्तन शील तो है ही। वह कभी अधिक समय तक एक दशा में नहीं रहता, रह ही नहीं सकता। कभी कोई देश बलवान होता है तो कभी कोई जाति विजयिनी होती है। आज कल यूरोप के गोरों का ज़माना है। संसार में जहां देखिए वहां गोरों का ही साम्राज्य, गोरों का ही प्रभुत्व और गोरों का ही सब कुछ है। मानो सारे संसार की सृष्टि ही इन गोरों की हुकूमत और सुख-भोग के लिये हुई है। पर क्या किया जाय! प्राकृतिक नियम ही ऐसा है कि कोई दशा अधिक समय तक नहीं चल सकती। इसीलिए वर्तमान दशा में भी परिवर्तन होना चाहता है। इस

परिवर्तन का बहुत कुछ आरम्भ भी हो चुका है। और मध्यावस्था पास ही दिखाई देने लगी है । मध्यावस्था विजित तथा अधीनस्थ राष्ट्रों में नये जीवन और नयी आशा का तथा विजेता और अधिकारारूढ़ राष्ट्रों में भय तथा आशंका का संचार कर रही है। दोनों ही एक दूसरे को नई नई दृष्टियों से देखने लगे हैं और दोनों ही अपनी अपनी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो रहे हैं। इस संघर्ष में कौन पक्ष विजयी होगा इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह उतना ही स्पष्ट है जितना कि सूर्य का प्रकाश होता है।

अमेरिका के न्यूयार्क नगर में लाथ्राप स्टाडर्ड नाम के एक सज्जन हैं जो राजनीति के अच्छे पंडित हैं। मत की दृष्टि से आप साम्राज्यवादी हैं और कदाचित् उस संस्था के एक अंग भी हैं जो कुछ स्वार्थी गोरे राष्ट्रों ने भिन्न-भिन्न स्थानों में साम्राज्यवाद का प्रचार करने और लोकमत को उसके अनुकूल करने के लिए खोल रक्खी है। इधर कुछ दिनों से आपकी समझ में यह बात आने लगी थी कि बीसवीं शताब्दि में संसार की राजनीति का रुख बिलकुल बदल जायगा और झगड़े देशों तथा राष्ट्रों के नहीं रह जायँगे बल्कि संसार की उन पांच मूल जातियों में रह जायँगे जो मानवशास्त्र के ज्ञाताओं ने वर्ण भेद के अनुसार निश्चित की हैं। ये पांच वर्ण कृष्ण, गौर, सर, पीत और रक्त हैं; और मुख्यतः इन्हीं जातियों में समस्त संसार के लोग बंटे हुए हैं। इनमें से गौर वर्ण के लोग तो सारे संसार के स्वामी होने के कारण एक ओर हैं और शेष चारों वर्णों के लोग अधीनस्थ होने के कारण दूसरी ओर। इसी बात का विचार करके सन् १९२० के आरम्भ में उन्होंने (The Rising Tide of colour) नाम की एक बड़ी और अच्छी पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होंने यह बतलाया था कि शेष चारों वर्णों के लोग गोरों के विरुद्ध किस प्रकार सिर उठा रहे हैं। और साम्राज्य-वादी होने के कारण साथ ही आपने यह भी बतलाया था कि गोरों को इन लोगों के विद्रोह से किस प्रकार अपनी रक्षा

करनी चाहिए। पुस्तक बहुत रोचक और अनेक ज्ञातव्य बातों से भरी हुई थी, अतः मैंने सोचा कि यदि हिन्दी में इस पुस्तक की मुख्य मुख्य बातें एकत्र कर दी जायं तो इस पराधीन देश के कुछ निवासियों को यह मालूम हो जायगा कि इस समय हमारी परिस्थिति क्या है और हमारे सरीखे करोड़ों अरबों अभागे भाई जो हमारी ही परिस्थिति में पड़े हुए हैं अपने उद्धार का किस प्रकार प्रयत्न कर रहे हैं। पर पुस्तक का ज्यों का त्यों अनुवाद करना मुझे ठीक न जँचा, क्योंकि वह सम्राज्यवादी की दृष्टि से लिखी गई थी। अतः मैंने उसमें प्रदर्शित विचारों का दृष्टिकोण बदल दिया और उन्हें ऐसे रूप में लिपिबद्ध किया जो अपनी हीन और पराधीन अवस्था के लिए ही उपयुक्त हो सकता था; और जिससे हमारे देश भाईयों को कुछ लाभ पहुंच सकता था। यही कारण था कि मैंने मूल पुस्तक का अन्तिम तृतीयांश बिलकुल छोड़ ही दिया। क्योंकि उसमें गोरों के अधिकारों की रक्षा के उपाय बतलाए गए थे और जो हमारी दृष्टि से किसी काम के नहीं थे।

प्रस्तुत रूप में मैंने यह पुस्तक कदाचित् १९२१ अन्त या १९२२ के आरम्भ में ही तैयार कर ली थी पर अनेक कारणों से अब तक उसके छपने की नौबत नहीं आई थी। वह समय ही कुछ और था। सारा संसार महायुद्ध की भीषण भट्टी में से उत्तप्त होकर तुरन्त ही निकला था। गोरी जातियों के तो होश हवास ही ठिकाने नहीं थे पर कहीं कहीं अन्यान्य वर्णों तथा देशों के लोग करवटें बदलने या हाथ पैर निकालने लगे थे। कई देश युद्ध के परिणाम स्वरूप बिलकुल पिस गए थे और कई देश राष्ट्रीय महासंघ की ओर बड़ी आशा से ताक रहे थे। भारत में असहयोग का आन्दोलन ज़ोरों से चल रहा था और ऐसा जान पड़ता था कि भारतवासी बिना स्वतंत्र हुए दम न लेंगे। उसके सफल मनोरथ होने के कुछ कुछ लक्षण भी दिखाई देने लगे थे। पर उसके उपरान्त शीघ्र ही कालचक्र ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि सारा जोश सर्दी के उबाल की तरह ठंडा पड़ गया और सब लोग आपस में ही

कटने मरने लग गये। हमारे गोरे महा प्रभुओं की चाल चल गई और उनका मनोरथ सिद्ध होता हुआ दिखाई देने लगा। कुछ दिनों तक ऐसी गृह-कलह मची कि स्वतन्त्र होने की कोई आशा ही न रह गई। पर इधर थोड़े दिनों से साइमन कमीशन की नियुक्ति के कारण कुछ और ही हवा चलने लगी है जिससे लोगों को थोड़ी बहुत आशा होने लग गई है। उस समय गोरे जेताओं ने तुर्की को इतना अधिक पीस डाला था कि वह समझते थे कि अब शायद यह पचीस पचास वर्ष तक उठकर खड़ा होने के योग्य भी न होगा। पर इस थोड़े से समय में ही तुर्की ने कमालपाशा के नेतृत्व में जो कमाल करके दिखलाया है वह सारे संसार के राजनीतिक इतिहास में अभूतपूर्व है और उसे देखकर बड़े बड़े गोरे प्रवीण राजनीतिज्ञों को भी दांतों उंगली दबानी पड़ती है। जिस चीन को बड़े बड़े शक्तिशाली राष्ट्रों ने चारों ओर से जकड़ रक्खा था उसने एक ही करवट में अपनी कई ज़ंजीरें तोड़ डालीं और एकही झटके में कइयों को दूर गिरा दिया। अब ये स्वार्थी गोरे वहां गृह-युद्ध की अग्नि सुलगा कर उसे दुर्बल करना चाहते हैं और यही इनका सबसे बड़ा अस्त्र है। उन दिनों अफ़गानिस्तान स्वतन्त्र होने पर भी नगण्य समझा जाता था। पर अब उसकी जाग्रति भी गोरों को शंकित और भयभीत कर रही है। और सबसे बढ़कर मज़ा बोल्शेविक रूस कर रहा है। उसने अपने समस्त अधीनस्थ प्रदेशों को तो आरम्भ में ही स्वतन्त्र कर दिया था जिससे उसके पड़ोसी गोरे घबरा रहेथे और अब तो उसने अपनी शासन-प्रणाली और व्यवस्था आदि के कारण मानो इन इन्द्रों का सिंहासन ही हिला दिया है। अब गोरे अपने अधीनस्थ देशों के विद्रोह से उतना अधिक नहीं डरते जितना कि अपने इस गोरे भाई की कृतियों से डरते हैं। इस समय बोलशविक रूस को प्रायः सभी गोरे अपने अधिकार और वैभव का परम शत्रु समझते हैं और वास्तव में बात भी कुछ ऐसी ही है। ख़ैर, यहां इन सब बातों के कहने का मेरा अभिप्राय केवल यही है कि जिस समय मैंने यह पुस्तक प्रस्तुत रूप में लिखी थी, उस समय

संसार की कुछ और ही दशा थी अब उसकी बिलकुल कायापलट हो गई है। मेरी नितान्त इच्छा थी कि मैं इसमें आज तक की कुछ मुख्य मुख्य बातें प्रसंगानुसार यथा स्थान बढ़ा देता परन्तु कुछ तो सामग्री और समय के अभाव के कारण मैं ऐसा न कर सका था और कुछ पुस्तक के बहुत दिनों तक अप्रकाशित पड़ी रहने के कारण उसके सम्बन्ध में मेरा उत्साह बिलकुल शिथिल पड़ गया था। इधर जब इस पुस्तक के प्रकाशन की व्यवस्था हुई तब मैं कई आवश्यक कामों में लगा हुआ था और बहुत इच्छा करने पर भी इसके लिये कुछ भी अवकाश न निकाल सका। विवश होकर यह पुस्तक उसी रूप में प्रकाशित की जा रही है जिस रूप में यह आज से प्रायः सात वर्ष पहले लिखी गई थी और इसमें इधर की बातों का समावेश न हो सका। आशा है सहृदय तथा विचारवान् पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे। यह जिस रूप में है उसी रूपमें इसे ग्रहण करके अपनी गुणग्राहकता का परिचय देंगे। यदि मुझे कभी अवकाश मिला तो मैं अवश्य अपनी योग्यता के अनुसार इसमें जहां तहां आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन करके इसे समयानुकूल बनाने का प्रयत्न करूंगा। पर इसका यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए कि अपने वर्तमान रूपमें यह पुस्तक उपादेय नहीं है। नहीं, इसमें उपादेयता है और बहुत अधिक मात्रा में है। और इस समय उतनी उपादेयता से भी लाभ उठा लेना कुछ बुरा नहीं है। क्योंकि अब भी हम लोग उसी पथ पर चल रहे हैं जिस पथ पर संसार के अन्यान्य वर्णों के लोग गोरों के प्रभुत्व से मुक्त हो कर स्वतंत्र होने के लिए चल रहे हैं। जिस पथ के हम पथिक हैं उसी पथ के अन्यान्य पथिकों की गति और विधि का ज्ञान अवश्य ही हम लोगों के लिये विशेष लाभदायक है। और इसी लाभ के विचार से अब भी यह पुस्तक अपने मूल रूप में ही प्रकाशित की जा रही है।

माघ शुक्ला पूर्णिमा
सं० १९८४.

निवेदक
रामचन्द्र वर्मा

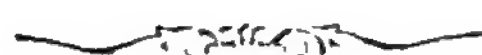
विषय-सूची

विषय

१—संसार का वर्ण-विभाग ९
२—पीत-वर्ण ३०
३—धूसर-वर्ण ७७
४—कृष्ण-वर्ण ११९
५—रक्त-वर्ण १४०
६—गोरों का प्रसार १७९
७—पतन का आरम्भ १९१
८—यूरोपीय महायुद्ध २०५
९—गोरों की एकता का नाश २२९
१०—उपसंहार ... ... २५[illegible]

गोरों का प्रभुत्व

गोरों का प्रभुत्व



संसार का वर्ण-विभाग

(१)

यदि आप संसार का मान-चित्र उठा कर देखें तो आप को पता चलेगा कि आजकल सारे संसार में केवल गोरी जातियों का ही राज्य है। संसार के प्रायः सभी देशों में राजनीतिक अधिकार केवल गोरों के ही हाथ में है। अपनी कूट राजनीति के कारण केवल गोरे ही इस सारे संसार के मालिक बने हुए हैं। इधर सैंकड़ों वर्षों से संसार के सब से छोटे महाद्वीप यूरोप की गोरी जातियाँ अपने घर से बाहर निकल कर संसार की चप्पा चप्पा जमीन पर फैल गई हैं। पास और दूर के सभी देशों में पहुँच कर इन गोरों ने अपना अड्डा अच्छी तरह जमा लिया है और उन देशों को किसी न किसी रूप में अपने अधिकार में कर लिया है। सभी जगह उन्होंने अपने झण्डे गाड़ दिये हैं, सभी जगह अपने कानून जारी कर दिये हैं और सभी जगह

अपने आचार, विचार तथा सभ्यता आदि का प्रचार कर दिया है उत्तर अमेरिका और आस्ट्रेलिया तो मानों बिलकुल यूरोप अथवा उसके अंग बन गये हैं। दक्षिण अमेरिका तथा आफ्रिका के अधिकांश स्थानों में इन गोरी जातियों ने अपने उपनिवेश स्थापित कर रखे हैं और एशिया का सारा उत्तरार्द्ध अर्थात साईबेरिया इन्हीं गोरों का निवास-स्थान बन गया है। जिन स्थानों पर ये गोरी जातियाँ किसी कारण से स्थायी रूप से बस नहीं सकी हैं, उन स्थानों पर भी इन्होंने कम से कम अपना राजनीतिक प्रभुत्व अवश्य स्थापित कर लिया है और वहाँ के असंख्य सीधे सादे निवासियों को विवश हो कर अपने इन गौराङ्ग महाप्रभुओं की आज्ञानुसार ही चलना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि इस समय सारे संसार पर सब प्रकार से इन गोरों का ही राज्य है। संसार में कोई ऐसा देश अथवा कोई ऐसी जाति नहीं है, जो पूर्ण रूप से इन गोरों के अधिकार-क्षेत्र के बाहर हो।

संसार के अधिकांश स्थानों में या तो गोरी जातियाँ स्वयं जा कर बस गई हैं, या इन्होंने वहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया है। कुछ थोड़े से देश अवश्य ऐसे हैं जिनमें इन गोरों का प्रत्यक्ष राज्य अथवा शासन नहीं है। पर उनमें भी किसी न किसी रूप में गोरों का हस्तक्षेप है ही। और वह हस्त-क्षेप भी इसी उद्देश्य से है कि वहाँ का शासन-कार्य वहाँ के निवासियों से छीन कर अपने हाथ में कर लिया जाय और वहाँ वालों को अपना गुलाम बना लिया जाय। पूर्वी एशिया में चीन, जापान और स्याम, पश्चिमी एशिया में तुर्की, अफगानिस्तान और फारस, आफ्रिका में एबिसीनिया और लाइबेरिया तथा अमेरिका में हेटी का छोटासा

राज्य बस यही कतिपय देश ऐसे हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूप से गोरी जातियों का शासन नहीं है। पर फिर भी इसमें शायद ही कोई देश ऐसा हो जिसमें गोरों का हस्तक्षेप न हो, अथवा जो इन गोरों के हाथों त्रस्त न हो। ध्रुव-प्रदेशों को छोड़ कर सारे संसार में ५,३०,००,००० वर्ग मील भूमि है जिसमें से केवल ६०,००,००० वर्ग मील भूमि ऐसी है जो गोरों के प्रत्यक्ष शासनाधिकार से बाहर है। इस ६०,००,००० वर्ग मील भूमि में से भी प्रायः दो तिहाई केवल चीन साम्राज्य के अधिकार में है। और फिर भी तमाशा यह है कि उस चीन को भी ये गोरे हज़म करने की चिन्ता में लगे हैं।

गत महायुद्ध पहले तो यूरोपीय महायुद्ध ही था, पर बाद में वह प्रायः संसारव्यापी हो गया था। उस महायुद्ध में चाहे सबसे अधिक हानि इन गोरों की ही क्यों न हुई हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि उससे लाभ भी इन गोरों का ही हुआ है। वास्तव में संसार के थोड़े से बचे-खुचे प्रदेशों को भी अपने अधिकार में लाने के लिए ही यूरोप वाले आपस में कट मरे थे। गत महायुद्ध से यूरोप वालों को एक सबसे बड़ा लाभ यह भी हुआ कि आगे जिन थोड़े से प्रदेशों में उनका राजनीतिक अधिकार बहुत कम था वहाँ अब वह बहुत बढ़ गया है। पहले जो थोड़े से प्रदेश अथवा जातियाँ इन गोरों के चंगुल से बची हुई थीं, उनको अब इन लोगों ने बहुत कुछ अपने अधिकार में कर लिया है। पहले तो गोरी जातियों ने अन्य वर्ण वालों से यह कह कर गत महायुद्ध में यथेष्ट सहायता ली कि यह युद्ध संसार की सब जातियों को स्वतन्त्र करने के लिए हो रहा है। पर युद्ध की समाप्ति पर इन्हीं

गोरों ने अन्य वर्णों के अपने पुराने गुलामों के बन्धन और भी कस दिये; और जिन पर पहले उनका विशेष अधिकार नहीं था, उनको भी बहुत कुछ अपने अधिकार में कर लिया। इस दृष्टि से संसार के इतिहास में गत महायुद्ध मानों एक बहुत ही शिक्षाप्रद घटना है। गत महायुद्ध से अन्य वर्ण वालों का चाहे और कुछ लाभ हुआ हो अथवा न हुआ हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इतना लाभ अवश्य हुआ है कि उनकी आँखें खुल गई हैं, गोरी जातियों पर से उनका विश्वास उठ गया है और उन्होंने समझ लिया है कि भीषण से भीषण संकट के समय भी इन गोरों की कदापि सहायता न करनी चाहिए।

गत महायुद्ध के कारण तुर्की पूर्ण रूप से अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों के चंगुल में फँस गया था, फारस पूर्ण रूप से ब्रिटिश साम्राज्य के संरक्षण में आ गया; और हेटी पर अमेरिका का सिक्का जम गया। एक तो यों ही पहले से सारे संसार पर गोरों का राज्य था, उस पर गत महायुद्ध ने थोड़े से बचे खुचे लोगों की स्वतन्त्रता भी हरण कर ली। अब एक मात्र जापान को छोड़ कर सारे संसार पर इन गोरों का अखण्ड राज्य है। अब युद्ध से छुट्टी पाकर ये गोरे इस उद्योग में लग गये हैं कि हमारे अधीनस्थ देश और जातियाँ किसी प्रकार स्वतन्त्र न होने पावें और सदा हमारी अधीनता ही में रहें। आज कल इस काम के लिए बड़े बड़े गोरे राजनीतिज्ञ दिमाग़ लगा रहे हैं और बड़े से बड़े उपाय सोच रहे हैं, जिसमें यह लूट का माल उनके हाथ से निकलने न पावे।

अब जरा यह देखिए कि वर्णों के विचार से संसार का

विभाग कैसा है। राजनीतिक दृष्टि से तो संसार का ९० प्रति सैंकड़ा इन गोरी जातियों के अधीन है, पर संसार का केवल ४० प्रति सैंकड़ा अंश ही ऐसा है, जिसमें गोरी जातियाँ बसती हैं अथवा जो पूर्ण रूप से गोरी जातियों का निवास-स्थान माना जा सकता है। अर्थात् संसार का $\frac{2}{5}$ वाँ भाग ही ऐसा है जो या तो इन गोरी जातियों का निवास-स्थान है अथवा जिसे इन गोरों ने जबरदस्ती अपना निवास-स्थान बना लिया है; और बाकी $\frac{3}{5}$ वाँ भाग ऐसा है जो मुख्यतः अन्य वर्णों के लोगों का निवास-स्थान है। ये अन्य वर्ण चार हैं—पीतवर्ण, धूम्रवर्ण, कृष्णवर्ण और रक्तवर्ण। महाद्वीपों में से यूरोप, उत्तर अमेरिका से रायो ग्रैण्ड तक का अंश, दक्षिण अमेरिका का दक्षिणी अंश, एशिया का साइबेरिया प्रदेश और आस्ट्रेलेशिया केवल गोरों का ही निवास-स्थान है। अथवा यों कहिये कि इनमें से कुछ तो वास्तव में उनका निवास-स्थान है और कुछ को उन्होंने जबरदस्ती अनेक उपायों से अपना निवास-स्थान बना लिया है। इधर एशिया का अधिकांश, प्रायः पूरा आफ्रिका और मध्य तथा दक्षिण अमेरिका का अधिकांश अन्य वर्णों के लोगों का निवास-स्थान है। गोरों की सारी बस्ती का क्षेत्रफल २,२०,००,००० और अन्य वर्णों की बस्तियों का क्षेत्रफल ३,१०,००००० वर्ग मील है। यहाँ एक और ध्यान रखने योग्य बात है। वह यह कि गोरों की पूरी बस्ती का एक तृतीयांश विशेषतः आस्ट्रेलेशिया और साइबेरिया ऐसा है जिसकी आबादी बहुत ही कम है। इन प्रदेशों को खाली पाकर गोरों ने जबरदस्ती अपना निवास-स्थान बना लिया है। यद्यपि वहाँ बसते हैं बहुत ही थोड़े

गोरे पर फिर भी उन्होंने उन स्थानों को अपने लिए घेर रखा है।

विभाग का वैषम्य उस समय और भी विलक्षण तथा आश्चर्य-जनक हो जाता है जब हम गोरों तथा अन्य वर्णों के लोगों की जन-संख्या का विचार करते हैं। इस समय सारे संसार की आबादी प्रायः १,७०,००,००,००० है। इससें से गोरों की संख्या प्रायः ५५,००,००,००० और अन्य वर्णों के लोगों की संख्या प्रायः १,१५,००,००,००० है। इस प्रकार अन्य वर्णों के लोगों की संख्या गोरों की संख्या की अपेक्षा दूनी से भी कुछ अधिक ही है। इसमें भी एक बहुत महत्व की बात यह है कि गोरों का अधिकांश केवल यूरोप में ही बसा है। बल्कि यों कहना चाहिए कि गोरों का वास्तविक निवास-स्थान केवल यूरोप ही है। उन्होंने जिस प्रकार संसार के $\frac{९२}{१०१}$ भाग को जबरदस्ती अपने शासन में कर लिया है उसी प्रकार यूरोप के अतिरिक्त अन्यान्य अनेक प्रदेशों को ज़बरदस्ती अपना निवास-स्थान बना लिया है। १९१४ में यूरोप की आबादी ४५,००,००,००० के लगभग थी। गत महायुद्ध के कारण इसमें लगभल एक करोड़ की कमी हो गई है पर इस सम्बन्ध में ध्यान रखने योग्य बात यह है कि गोरों की कुल बस्तियों में जन-संख्या के विचार से उनका विभाग कैसा है। गोरों ने जितने स्थानों को अपना निवास-स्थान बना लिया है, उस में केवल एक पंचमाश में कुल गोरी जाति का चार पंचमाश निवास करता है और कुल गोरी जाति का बाकी एक पंचमाश अर्थात् लगभग ११,००,००,००० आदमी बाकी सब स्थानों में फैले हुए हैं। अर्थात् कुल गोरों के एक पंचमाश ने ही अपनी कुल

बस्ती का चार पंचमांश रोक रखा है। या यों कहिए कि यदि सौ ही गोरे हैं और उनके पास सौ ही मील भूमि है, तो अस्सी गोरे तो केवल बीस मील से भी कम स्थान में रहते हैं और बाकी बीस गोरों ने अस्सी मील भूमि रोक रखी है। किस लिए? इसलिए कि उनकी ही सन्तान वहाँ रहे, वहाँ की उपज से लाभ उठावे और अन्य वर्णों के लोग वहाँ घुस न सकें! यही है गोरों का असह्य प्रभुत्व! यही है उनका असह्य बोझ!

हम ऊपर कह चुके हैं कि संसार में गोरों के अतिरिक्त पीत, धूम्र, कृष्ण और रक्त ये चार वर्ण हैं और इन सब की जन-संख्या १,१५,००,००,००० है। इनमें से सब से अधिक संख्या पीत वर्ण के लोगों की है जो ५०,००,००,०० से भी कुछ ऊपर ही है। उनका निवास-स्थान पूर्वी एशिया है। इनके बाद धूम्र वर्ण या गेहुएँ रंग के लोग हैं, जिनकी संख्या ४५,००,००,००० के लगभग है। ये लोग दक्षिणी तथा पश्चिमी एशिया और उत्तरी आफ्रिका में बसे हुए हैं। कृष्ण वर्ण के लोगों की जन-संख्या १५,००,००,००० के लगभग है और उनका मुख्य निवास-स्थान आफ्रिका के प्रसिद्ध सहारा रेगिस्तान का दक्षिणी भाग है। इनमें से कुछ लोग दक्षिण एशिया और उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के कुछ स्थानों में भी बसे हुए हैं। रक्त वर्ण के लोगों की संख्या केवल चार ही करोड़ है और वे अमेरिकन संयुक्त राज्यों के दक्षिण में निवास करते हैं।

इधर बहुत दिनों से गोरों की आबादी भीषण रूप से बढ़ रही थी, पर अब लक्षणों से जान पड़ता है कि उनकी वृद्धि रुक रही है और अन्य वर्णों के लोगों की आबादी बढ़ रही है। इधर

थोड़े दिनों का हिसाब लगाने से पता चलता है कि गोरों की संख्या
अस्सी बरस में, पीत और धूम्र वर्ण के लोगों की संख्या साठ
बरस में और कृष्ण वर्ण के लोगों की संख्या चालीस बरस में
दूनी हो जाती है। रक्त वर्ण के बहुत से लोगों का तो इन गोरों ने
केवल इसीलिए नाश कर डाला है कि उनके प्रदेश खाली हो जायँ
और उनमें इन गोरों को अपना अड्डा जमाने का अवसर मिले।
आज कल की यूरोपीय सभ्यता जन-संख्या की वृद्धि में बहुत
कुछ बाधक हो रही है। यहाँ तक कि फ्रान्स की जन-संख्या ने तो
एक प्रकार से स्थायी रूप धारण कर लिया है और उसकी वृद्धि
प्रायः नाम मात्र को ही हो रही है।

पर अन्यान्य वर्ण के लोगों की यह बात नहीं है। यद्यपि उन
में से अनेक जातियों और उपजातियों आदि की मृत्यु-संख्या
अपेक्षाकृत अधिक है, तथापि उनकी जन-संख्या दिन पर दिन बढ़ती
ही जाती है। गोरी जाति सारे संसार की मालिक और शासक
है, इसलिए वह स्वभावतः सब से अधिक सम्पन्न भी है। पर और
जातियाँ दरिद्र हैं, इसलिए उनमें अनेक प्रकार के रोग भी होते हैं
और समय समय पर अनेक अकाल भी पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त
उनमें से अनेक कुछ असभ्य भी हैं, इसलिए वे आपस में भी
खूब मार काट करती हैं। इन सब कारणों से उनकी मृत्यु-संख्या
तो अधिक होती है, पर फिर भी उनकी संख्या कुछ न कुछ बढ़ती
ही है। जहाँ एक ओर गोरी जाति अनेक प्रकार के उपाय करके
अन्य वर्णों के लोगों की मृत्यु-संख्या कम करती है, वहाँ वह प्रका-
रान्तर से मृत्यु-संख्या बढ़ाती भी है। वह असभ्य जातियों को
आपस में कटने मरने से रोकती भी है और फिर अपने काम के

लिए उनको दूसरों से लड़ा कर कटवाती भी है। वह अस्पताल आदि खोल कर मृत्यु-संख्या घटाने का भी उद्योग करती है और उसके कारण नई नई भीषण बीमारियाँ भी फैलती हैं। इसी प्रकार वह अकाल आदि दूर करने का भी उद्योग करती है और स्वयं अकाल का कारण भी बनती है। तो भी यह मानना पड़ेगा कि साधारणतः गोरों के कारण अन्य वर्ण के लोगों की मृत्यु-संख्या आज कल कुछ कम ही हो रही है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि सारे संसार में अन्य वर्णों के लोगों की जन-संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। भारत सरीखे पूर्ण पराधीन देशों, चीन सरीखे अर्ध पराधीन देशों और जापान सरीखे स्वतन्त्र देशों में भी जन-संख्या बराबर कुछ न कुछ बढ़ती है; और उनकी यह वृद्धि गोरों की वृद्धि की अपेक्षा कुछ अधिक ही पड़ती है। और फिर अन्य वर्ण के लोग हैं भी तो गोरों की अपेक्षा दूने से भी अधिक इस-लिए उनकी वृद्धि भी अपेक्षाकृत अधिक ही है।

अब यह सोचना चाहिए कि अन्य वर्णों की इस वृद्धि का अनिवार्य परिणाम क्या होगा अथवा क्या होना चाहिए। क्या यह सम्भव अथवा उचित है कि ये गोरे इसी प्रकार सदा संसार के स्वामी बने रहें, बसने के योग्य सभी स्थानों में अपना एकाधि-कार जमा कर बैठे रहें और अन्य वर्णों के लोग बहुत ही थोड़े स्थान में सदा कठिनता से अपना निर्वाह करते रहें? हमारी समझ में इसका उत्तर है—कदापि नहीं। इसका परिणाम यही होना चाहिए कि अन्य वर्णों के लोग भी अपने प्रसार का उद्योग करें, अपने संकुचित निवास-स्थानों से निकल कर आगे बढ़ना चाहें। उस दशा में गोरों को स्वभावतः विवश हो कर अन्य वर्णों

के उन लोगों के थोड़े बहुत स्थान खाली करने पड़ेंगे। जिन पर उन्होंने इधर कुछ दिनों में जबरदस्ती अधिकार जमा लिया है। गोरों के पास तो इतना अधिक स्थान है कि सैकड़ों बरस तक भी वे उसका पूरा पूरा उपयोग न कर सकेंगे। और अन्य वर्णों के लोगों के पास इतना कम स्थान बच गया है कि उसमें उनका दम घुट रहा है। अन्य वर्णों के पास जितनी भूमि बच रही है, उसमें उनका निर्वाह बहुत ही कठिनता से हो रहा है। हाँ, माना कि कुछ स्थानों के लोग कृषि आदि में थोड़ा बहुत सुधार करके और जीविका के नये साधन निकाल कर अपना निर्वाह कुछ और सुभीते से करने लग जायँ, जैसा कि जापान ने किया है। पर फिर भी इससे कोई बहुत बड़ा लाभ नहीं हो सकता। इससे तो उनके भीषण कष्ट केवल कम हो कर ही रह जायँगे, उनका अन्त किसी प्रकार न होगा। और जब तक उन कष्टों का पूर्ण रूप से अन्त न होगा, तब तक संसार में किसी प्रकार शान्ति न होगी। अन्य वर्णों के पास अपने अपने देश में बहुत ही थोड़ा स्थान बचा है और उनकी जन-संख्या बराबर बढ़ती ही जाती है। अब या तो वे अपने अपने देश से निकल कर किसी और स्थान में जा बसें, या अपने ही देश में रह कर भूखों मरें। गोरे भले ही यह चाहें कि सारे संसार में हमारा ही अधिकार रहे और दूसरे वर्णों के लोग भूखों मर जायँ, परन्तु अन्य वर्णों के लोग यह कब देख सकते हैं कि गोरे तो हमारे देश में आ कर उसके सभी अच्छे अच्छे स्थानों पर अधिकार जमा कर बैठें, और हमारे बाल-बच्चे भूखों मरें; और वह भी विशेषतः ऐसी अवस्था में, जब कि वे यह देखते हैं कि गोरों के पास वे सब स्थान खाली पड़े हैं और वे उन

का पूरा पूरा उपयोग ही नहीं कर सकते। यदि अकाल के दिनों में हजारों लाखों आदमी तो भूखों मरते हों और थोड़े से आदमियों के पास उन्हीं भूखों मरने वालों के घरों का लूटा हुआ लाखों मन अनाज पड़ा हो, तो उसका अनिवार्य परिणाम क्या होगा ? यही न कि वे लाखों अकाल पीडित किसी न किसी प्रकार उस अनाज पर अधिकार प्राप्त करने का उद्योग करेंगे ? इन गोरों ने भी संसार के अधिकांश स्थानों पर अधिकार करके संसार में जमीन का अकाल पैदा कर दिया है। ऐसी दशा में अन्य वर्णों के लोगों के पास इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं है कि वे जिस प्रकार हो सके, उन स्थानों में जा पहुँचें, जिन पर इन गोरों ने अपना आधिपत्य जमा रखा है और जो अब तक प्रायः खाली ही पड़े हैं। गोरे चाहते हैं कि ये खाली स्थान भी सदा हमारे ही अधिकार में रहें और चाहे इस समय हमारे कुछ भी काम न आवें, पर फिर भी हमारी भावी सन्तान के लिए सुरक्षित रहें। इसीलिए उन्होंने अनेक प्रकार के कानून आदि बना कर अन्य वर्णों के लोगों का वहाँ जाना रोक दिया है। एक ओर तो गोरों ने अपनी रक्षा के लिए बड़े बड़े बाँध बाँध रखे हैं और दूसरी ओर अन्य वर्णों के लोगों की भीषण लहरें उठ रही हैं, जो इन बाँधों को तोड़ना चाहती हैं। उचित तो यह था कि ये गोरे आप ही खाली स्थानों को अन्य वर्णों के लिए छोड़ देते, पर वे नीति-पथ से इतने भ्रष्ट हो चुके हैं कि उनसे इस प्रकार की आशा रखना बिलकुल व्यर्थ है।

यों तो आरम्भ से ही अन्य वर्णों के लोगों को गोरों का प्रभुत्व खल रहा है, पर अब उनके सामने एक और भी विकट

प्रश्न आ उपस्थित हुआ है। वह प्रश्न है आत्म-रक्षा का। वे इस कष्ट से अपना निस्तार चाहते हैं और अपने लिए रहने का स्थान चाहते हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि जब बहुत से लोगों पर एक ही विपत्ति पड़ती है, अथवा बहुत से लोगों को एक ही संकट का सामना करना पड़ता है, तब वे सब आपस के झगड़ों, विरोधों और मत-भेदों को भूल कर उस विपत्ति का सामना करने के लिए एक होने का उद्योग करते हैं। इस समय अन्य वर्णों के लोगों को गोरों के प्रभुत्व रूपी संकट का सामना करना है, इस-लिए उनके आपस के सब झगड़े भी दब जाने चाहिएँ और सम्भवतः दब जायँगे।

श्रीयुक्त डाक्टर ई० जै० डिलन एक बहुत बड़े अँगरेज विद्वान् हैं। उन्होंने सारे संसार की राजनीतिक परिस्थिति का बहुत ही परिश्रम पूर्वक अध्ययन किया है और ऐसी बातों के सम्बन्ध में सम्मति देने के लिए वे बहुत बड़े अधिकारी माने जाते हैं। सन् १९०८ में उन्होंने एक प्रसिद्ध अँगरेजी मासिक पत्र में एशिया सम्बन्धी समस्याओं पर एक विचार पूर्ण लेख लिखा था। उसी लेख में उन्होंने एक स्थान पर कहा था—"एशिया वालों के लिए यह जीवन और मरण का प्रश्न है; क्योंकि कोई जाति, चाहे वह कितनी ही छोटी श्रेणी की क्यों न हो, कभी यह मंजूर नहीं करेगी कि हम तो धीरे धीरे नष्ट हो जायँ और हमें नष्ट करनेवाले हमारा ही सर्वस्व लेकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करें। विशेषतः उस अवस्था में तो वह नष्ट होना और भी मंजूर न करेगी, जब कि वह देखेगी कि हमारे लिए लड़ झगड़ कर नष्ट होने से बचने का एक बहुत अच्छा अवसर उपस्थित है।"

एक गोरे ने अन्य वर्ण के लोगों के विचारों के सम्बन्ध में यह जो कुछ कहा है, वह बहुत ही ठीक है। सन् १९१३ में जापान मैगजीन में प्रसिद्ध जापानी विद्वान् प्रोफेसर नेगोई ने लिखा था—"यह संसार केवल गोरी जातियों के लिए ही नहीं बना है, बल्कि अन्य वर्णों के लोगों के लिए भी बना है। आस्ट्रेलिया, दक्षिण आफ्रिका, कैनाडा और अमेरिका के संयुक्त राज्यों में ऐसी बहुत अधिक जमीनें खाली पड़ी हैं, जो आबाद हो सकती हैं। पर तमाशा यह है कि वहाँ की शासक जातियों के लोग स्वयं तो उन जमीनों को आबाद करने से इनकार करते हैं और साथ ही पीत वर्ण के लोगों को वहाँ घुसने नहीं देते। इससे यह सिद्ध होता है कि ये गोरी जातियाँ अपने पीत वर्ण के भाइयों को जो चीज देने से इनकार करते हैं, वही चीज जंगली पशुओं और पक्षियों के आगे फेंक देने के लिए तैयार हैं। कुछ देशों के बड़े बड़े रईस और जमींदार अपने दम्भ और लालच के कारण बढ़िया बढ़िया जमीनें अपने लिए रख लेते हैं और निकम्मी जमीनें गरीबों के लिए छोड़ देते हैं। पर उनका यह अनुचित व्यवहार इन गोरी जातियों के उस व्यवहार के सामने कुछ भी नहीं है जो व्यवहार ये अन्य वर्णों के लोगों के साथ करती हैं।"

तात्पर्य यह कि संसार में गोरों का प्रभुत्व बेतरह बढ़ गया है और अन्य वर्णों के लोगों के साथ उनका व्यवहार बहुत ही बुरा हो गया है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि अन्य वर्णों के लोगों में गोरों के प्रति घोर असन्तोष उत्पन्न हो गया है और यह असन्तोष समय समय पर अनेक रूपों में प्रकट होता है। गत महायुद्ध छिड़ने से कुछ ही पहले एक अंगरेजी पढ़े-लिखे अफ़-

गान ने एक स्थान पर लिखा था—"यूरोप और अमेरिका वालों में अन्य वर्णों के प्रति बहुत ही कायरता पूर्ण तथा निन्दनीय वर्ण-विभेद के भाव उत्पन्न हो गये हैं। आगे चलकर सारे एशिया का यूरोप और अमेरिका के साथ झगड़ा होगा। ये गोरे ऐसे अधिका-धिक साधन उत्पन्न कर रहे हैं जिनसे आगे चलकर बड़ा भारी जहाद होगा। उस जहाद में केवल समस्त मुसलमान ही नहीं, बल्कि एशिया के सभी निवासी सम्मिलित होंगे और इन गोरों से बदला लेंगे। पुराने आक्रमणों की भांति इस बार के आक्रमण में एशिया वाले भालों और बरछों से काम नहीं लेंगे बल्कि बन्दूकों और गोलियों से काम लेंगे। आप लोगों (गोरों) को औचित्य तथा बुद्धिमता पूर्वक जो बातें बतलाई जाती हैं, वे बातें आप लोग सुनते नहीं हैं। इसलिए जब तलवार तप कर खूब लाल हो जायगी, तब उस तलवार से आप लोगों को समझाया जायगा।"

यदि सच पूछिए तो इन कथनों में न तो कोई विशेषता है और न विलक्षणता। अन्य वर्णों के लोगों ने आज तक कभी गोरों के प्रभुत्व को अच्छा नहीं समझा। कोई दूसरे के प्रभुत्व को अच्छा नहीं समझता, फिर और लोग गोरों के प्रभुत्व को क्यों अच्छा समझते? गोरों के शासन और अधीनता में आकर सभी लोग सदा दुःखी और असन्तुष्ट रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त तक यह हाल था कि अन्य वर्णों के लोग गोरों के प्रभुत्व को कष्ट-प्रद तो अवश्य समझते थे, पर साथ ही वे उसे अनिवार्य भी मानते थे। पर इस बीसवीं शताब्दि में वे यह समझने लग गये हैं कि गोरों का यह प्रभुत्व अनिवार्य नहीं बल्कि निवार्य है। इधर चार सौ वर्षों से ये गोरी जातियाँ नित्य नये देश और महा-

देश जीतती रही हैं और अपना साम्राज्य बढ़ाती रही हैं। उन्होंने अपनी जल तथा स्थल सेना खूब बढ़ा ली है और अनेक भीषण नाशक यन्त्र तैयार कर लिये हैं। अपने इस बल और इन यन्त्रों की सहायता से ये गोरी जातियाँ अन्य वर्णों को खूब अच्छी तरह कुचलती और पीसती चली आई हैं; और जो लोग अपनी स्वतन्त्रता और अपने देश की रक्षा के लिए उनका विरोध करते हैं, उनके प्रयत्नों को बराबर निष्फल करती हैं। यही कारण था, जिससे उन्नीसवीं शताब्दि के अंत तक अन्य वर्णों के लोग इन गोरों से बहुत डरते थे और विवश होकर उनका प्रभुत्व मान लेते थे। बेचारों के पास इसके सिवा और कोई उपाय ही नहीं था। पर हाँ, इतना अवश्य था कि वे गोरों के प्रभुत्व से कभी सन्तुष्ट नहीं हुए और न वे कभी उनका आदर करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दि की समाप्ति के समय ही इस बात के प्राथमिक लक्षण दिखाई पड़ने लग गये थे कि अन्य वर्णों के लोगों के विचारों और भावों में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन होने लगा है। पीत और धूसर वर्ण के बहुत से लोग पाश्चात्य विचार ग्रहण कर चुके थे। अब वे गोरों को अधिक सूक्ष्म दृष्टि से देखने लगे और इस बात का विचार करने लगे कि आखिर इन गोरों के प्रभुत्व और हमारी अधीनता का कारण क्या है। अन्त में उन्होंने समझ लिया कि इन गोरों में कोई अलौकिक गुण या शक्ति नहीं है। ये लोग केवल परिस्थितियों को ही अपने अनुकूल बनाकर इतने बलशाली हो गये हैं। यदि हम भी इसी प्रकार उद्योग करें तो परिस्थितियाँ हमारे लिए भी अनुकूल हो सकती हैं और हम भी इन्हीं के समान बलवान् हो सकते हैं। जापान ने आगे बढ़

इस बात की परिक्षा की। १९०४ में वह रूस के साथ में भिड़ गया। एशिया के लाखों और करोडों आदमियों के मन में जो भाव उत्पन्न हो रहे थे, उन्हीं भावों का सूचक वह युद्ध था। इसीलिए जापान के विजयी होने पर सारे एशिया में आनन्द मनाया गया था। जापान को जीतते देख कर एशिया वाले केवल प्रसन्न ही नहीं हुए थे, बल्कि अनजान में ही उनमें एक नवीन आशा का भी संचार हो गया था। अब तक गोरे संसार में अजेय समझे जाते थे। पर अब उनकी वह अजेयता जापान ने नष्ट कर दी अब लोगों की यह धारणा हो चली कि उद्योग और परिश्रम करके हम भी गोरों की बराबरी कर सकते हैं। अब उन लोगों को वास्तविक शक्ति का कुछ कुछ अनुमान होने लगा और उनके मन से गोरों का भय दूर होने लगा, वे यह भी सोचने लगे कि गोरों का यह प्रभुत्व किन किन उपायों से नष्ट हो सकता है और हमें स्वतंत्र होने के लिए क्या क्या करना चाहिए। अब वे गोरों के प्रभुत्व को अनिवार्य तो समझते ही नहीं थे, इसलिए उन्हें अपनी सफलता की पूरी पूरी आशा हो गई। पर साथ ही उन्होंने यह भी समझ लिया कि गोरों का प्रभुत्व नष्ट करना चाहे असम्भव न हो, फिर भी खिलवाड़ नहीं है। इसके लिए हमें कुछ दिनों तक निरंतर कठिन परिश्रम करना पड़ेगा। अतः फिर भी लोगों के मन में गोरों का भय और उनकी सभ्यता के प्रति आदर बना ही रहा।

इसके बाद छिड़ पड़ा युरोपीय महायुद्ध। उस महायुद्ध में अन्य वर्णों के लोगों ने कई नई बातें देखीं और सीखीं, जिनसे उनकी आँखें और भी खुल गईं। अब तक तो वे प्रायः यही देखते

थे कि अन्य वर्णों के साथ काम पड़ने पर सब गोरे मिल कर एक हो जाते हैं, पर महायुद्ध में उन्होंने देखा कि ये गोरे आपस में ही कुत्तों की तरह लड़ रहे हैं और एक दूसरे की जान के ग्राहक हो रहे हैं। गोरों ने युद्ध में अपने अपने अधीनस्थ देशों के निवासियों से भी सहायता ली थी, जिससे उन लोगों को युद्ध-सम्बन्धी अनुभव भी हो गया और अपनी योग्यता तथा बल आदि का भी पता चल गया। लोगों को अपने पक्ष में मिलाने के लिए इन गोरों ने समय समय पर न्याय और अधिकार-सम्बन्धी बड़े बड़े उदार तथा उच्च सिद्धांत भी प्रतिपादित किये थे जिससे लोगों की आशा और साहस और भी बढ़ गया। गोरे आपस में कट मर रहे थे और उनके अधीनस्थ देशों के लोग बड़ी बड़ी आशाएँ लगाए उनकी सहायता कर रहे थे। गोरों का बल तो नष्ट हो रहा था और उनकी सभ्यता की पोल खुल रही थी। अन्य वर्णों के लोग या तो गोरों के दिए हुए वचनों का विश्वास करके, और या उनको नष्ट होते हुए देख कर समझ रहे थे कि अब हमारे निस्तार में अधिक विलम्ब नहीं है। अब गोरों का भय तो उसी प्रकार दूर हो गया था जिस प्रकार पुराने कपड़े उतार कर फेंक दिये जाते हैं। आगे चल कर जब इन गोरों ने अपनी अपनी प्रजा के साथ धोखेबाजी की, अपने पिछले वचनों को भुला कर प्रजा के बन्धनों को और भी दृढ़ करना चाहा, तब लोगों के असंतोष ने भीषण रूप धारण किया; और उन्होंने निश्चय किया कि जब जिस प्रकार होगा, हम इन गोरों का प्रभुत्व नष्ट करके ही छोड़ेंगे आज कल का संसार प्रायः इसी दशा में चल रहा है। अन्य वर्णों के लोग गोरों का प्रभुत्व नष्ट करने का उद्योग कर रहे हैं

और गोरे अपना प्रभुत्व बनाये रखने की चिंता से त्रस्त हो रहे हैं। दोनों ही पक्ष अपना अपना उद्देश्य सिद्ध करने के उपाय सोच रहे हैं। कदाचित् पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि इसमें जीत किस पक्ष की होगी। केवल यही अटल सिद्धान्त बतला देना यथेष्ट है कि किसी का प्रभुत्व, और वह भी विशेषतः अत्याचार-पूर्ण प्रभुत्व, सदा बना नहीं रह सकता।

महायुद्ध के समय एशिया के प्रायः सभी निवासी गोरी सभ्यता की घोर निंदा करते थे, गोरों को घृणा की दृष्टि से देखते थे और उनके नाश से प्रसन्न होते थे। यह बात स्वतंत्र देशों की है, भारत सरीखे परतन्त्र देशों की नहीं। बेचारे यहाँ वाले तो अपने शासकों की खुशामद में लगे थे, हर तरह से उनकी पूरी सहायता करते थे और उनकी विजय के लिए मंदिरों और मसजिदों में प्रार्थनाएँ करते थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि बहुत दिनों की पराधीनता के कारण उनका जितना घोर पतन हुआ था, उसका प्रमाण देने के लिए अपने बन्धन आप ही कस रहे थे। आगे चल कर उनको अपनी राजभक्ति का पूरा पूरा फल भी मिल गया, जिससे उनकी आँखें खुल गईं और अब वे भी गोरों का प्रभुत्व नष्ट करने में लग गये हैं। पर अन्य स्वतंत्र अथवा अर्द्ध-स्वतंत्र देशों के लोग महायुद्ध के समय गोरों की खूब दिल्लगी उड़ाते थे और उनका भीषण नाश देख कर प्रसन्न होते थे। कुछ लोग उनको तरह तरह के ताने भी देते थे और उन पर फबतियाँ भी छोड़ते थे। महायुद्ध के समय कुस्तुन्तुनिया के एक तुर्की समाचार-पत्र ने युरोप की महाशक्तियों के सम्बन्ध में लिखा था—"ये महाशक्तियाँ अपने देशों अथवा अन्य स्थानों के दोषों

और बुराइयों पर तो कुछ भी ध्यान न देती थीं, और हमारी सीमाओं पर यदि कोई छोटी मोटी घटना भी हो जाती थी, तो चट हस्तक्षेप कर बैठती थीं। वे नित्य हमारा कोई न कोई अधिकार, कोई न कोई प्रान्त छीना ही करती थीं। उनका समय हमारे शरीर में से मांस के बड़े बड़े टुकड़े काटने में ही बीतता था। हम लोग उनके विरुद्ध विद्रोह करना चाहते थे, पर अपने आपको बलपूर्वक रोकते थे। हम मुट्ठी बाँधे हुए थे, पर हम में घूँसा चलाने का बल नहीं था। अंदर ही अंदर आग जल रही थी। पर फिर भी हम लोग चुप चाप पड़े थे और मनाते थे कि किसी तरह ये लोग आपस में भिड़ जाँय, एक दूसरे को नोच नोच कर खाने लगें। और आज वही दृश्य देख लीजिये। ये महाशक्तियाँ एक दूसरी को उसी प्रकार नोच नोच कर खा रही हैं, जिस प्रकार तुर्क लोग चाहते थे कि वे एक दूसरी को खायँ।"

अमेरिका में रहने वाले एक आफ्रिका निवासी ने एक अवसर पर लिखा था—"अन्य वर्णों के लोग यह अनुचित व्यवहार तभी तक सहन करेंगे जब तक कि उसका सहन करना अनिवार्य होगा, और उसके बाद वे फिर क्षण भर भी यह व्यवहार सहन न करेंगे। ये सब मिल कर लड़ेंगे और इतनी भीषणता से लड़ेंगे जितनी भीषणता से आज तक संसार में कोई न लड़ा होगा; क्योंकि अन्य वर्णों के लोगों के साथ बड़े बड़े अत्याचार किये गये हैं और उन अत्याचारों को वे कभी भूल नहीं सकते।"

जापानी लेखक नोगूचीने लिखा था—"हम एशियावालों के लिए इस युरोपीय महायुद्ध का क्या अर्थ है? हमारे लिए इसका यही अर्थ है कि इससे पश्चिमी सभ्यता का बहुत ही बुरी तरह से

नाश हो जायगा। पहले हमारा यह विश्वास था कि पश्चिमवालों की सभ्यता का आधार हम लोगों की सभ्यता के आधार की अपेक्षा अधिक उच्च और दृढ़ है। पर इस युद्ध को देखकर हमारा यह विश्वास बिलकुल नष्ट हो गया। हमें इस बात का दु:ख है कि पहले हमने इसका वास्तविक स्वरूप नहीं समझा और उनके कल्पित स्वरूप से धोखा खाया। अभी हाल में युरोप में प्रवास करने के कारण मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई है कि पाश्चात्य सभ्यता को हम एशियावाले जैसा समझते थे, वास्तव में वह उसके बिलकुल विपरीत है। और जब एक के मन से दूसरे का आदर नष्ट हो जाता है, तब दोनों में किसी न किसी प्रकार की, किसी न किसी रूप में लड़ाई हो ही जाती है।"

गोरों के आपस में लड़ने का एशिया और आफ्रिका वालों पर प्राय: इसी प्रकार का प्रभाव पड़ा रहा था, और ज्यों ज्यों युद्ध बढ़ता जाता था त्यों त्यों वे और भी प्रसन्न होते थे। युद्ध समाप्त हो गया, पर एशियावालों के कष्ट ज्यों के त्यों बने रहे। बल्कि अनेक स्थानों में तो वे और भी बढ़ गये। यही कारण है कि आज एशिया और आफ्रिका में घोर असन्तोष फैला हुआ है। यह असन्तोष युद्ध के कारण उत्पन्न नहीं हुआ है, बल्कि उससे बहुत पहले का है। युद्ध ने तो केवल उस आन्दोलन को और भी बलवान् बना दिया, जो युद्ध के बहुत पहले से चला आ रहा था। यदि यह महायुद्ध न भी होता तो भी इस बीसवीं शताब्दि में सारे संसार में बहुत बड़ा परिवर्तन होता, जिससे सारे संसार में और विशेषत: एशिया में गोरों के प्रभुत्व को भारी धक्का पहुँचता। पर हाँ, इतना अवश्य होता कि उस दशा में गोरों का बल बना रहता और

वे कुछ अधिक समय तक अपने प्रभुत्व की रक्षा कर सकते। इस के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लोगों का उतना हौंसला भी न बढ़ता। लोग आन्दोलन करते और गोरे अपने सुभीते के अनुसार उनके थोड़े बहुत कष्ट दूर कर देते। उस दशा में अधीनस्थ देशों का केवल विकास ही होता, उनमें क्रान्ति न होती। पर शायद ईश्वर को यह बात मंजूर नहीं थी कि संसार में गोरों का अत्याचार बढ़े और दूसरे वर्णों को उनका बोझ ढोना पड़े। कदाचित् वह संसार के सिर से गोरों का बोझ उतारना चाहता था, इसी लिए गोरे आपस में भिड़ गये और ऐसे भिड़े कि यदि अन्य वर्णों के लोग युद्ध में उनकी सहायता न करते तो शायद उनका पूरा पूरा नाश हो जाता। अन्य वर्णों की कृपा से गोरों का पूरा नाश तो नहीं हो सका, पर फिर भी बहुत कुछ नाश हो गया। लेकिन इतने पर भी मदान्ध गोरों की आँखें नहीं खुलीं और युद्ध की समाप्ति पर वार्सेलीज में उन्होंने ऐसी सन्धि की जिससे संसार-रूपी शरीर के पुराने घाव और भी गहरे हो गये; और साथ ही और भी अनेक नये घाव हो गये। उस सन्धि ने भीषण नाश का बीज बो दिया। इस बीज से जो वृक्ष होगा, उसका फल इन गोरों को तो चखना ही पड़ेगा, दुर्भाग्यवश अन्य वर्णों को भी उसका कुछ न कुछ अंश मिलेगा। बस यही गोरों के प्रभुत्व का परिणाम है। इस प्रभुत्व का अन्त ही सब के लिए सुख कर हो सकता है। यदि गोरे अपने प्रभुत्व को और भी दृढ़ तथा स्थायी करने का प्रयत्न करेंगे, तो उसका परिणाम न तो उनके लिए ही अच्छा होगा और न दूसरों के लिए ही। उन्हें स्वयं तो अपने पाप का प्रायश्चित करना ही पड़ेगा, साथ ही दूसरों को भी उसका फल भोगना पड़ेगा।

पीत-वर्ण

(२)

पीत वर्ण वालों का मूल निवास-स्थान पूर्वी एशिया है। वहाँ मंगोलियन जाति के अनेक वर्ग हजारों वर्षों से रहते आये हैं। बहुत काल तक ये पीत, वर्णवाले संसार की और सभी जातियों से बिलकुल अलग और स्वतंत्र रहते थे और किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे। बड़े बड़े पहाड़ों रेगिस्तानों और अगाध समुद्र से घिरे होने के कारण इनका देश मानों एक स्वतंत्र संसार ही था, जिसमें ये लोग बिलकुल स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते थे और अपनी विलक्षण सभ्यता का विकास करते थे। इनमें से हूण, मंगोल, और तातार आदि ही कुछ खाना बदोश वर्ग ऐसे थे जिनका पश्चिम के धूसर और गौर वर्ण के लोगों के साथ कुछ सम्बन्ध हुआ था; और नहीं तो शेष वर्गों का कभी किसी के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं हुआ था।

पूर्वी एशिया में पीत वर्णवालों का मुख्य स्थान चीन है और वहीं से सारे पूर्वी एशिया में सभ्यता का प्रचार हुआ है। पूर्व के जापानी और कोरियन, स्यामी, अनामी और कम्बोडियन तथा उत्तर के खाना-बदोश मंगोल और मंचू सभ्यता आदि सभी बातों

में इन्हीं चीनियों के आश्रित थे। इन सभी वर्गों के लिए चीन मानों एक पूज्य गुरु और मार्गदर्शक था। आज दिन पूर्वी एशिया में चाहे राजनीतिक दृष्टि से जापान का प्रभुत्व कितना ही क्यों न बढ़ जाय, पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि पीत वर्णवालों का मूल स्थान और केन्द्र वही चीन है, जो किसी समय जापान का भी गुरु था। समस्त पीत जाति का चार पंचमांश चीन में ही रहता है। इस समय चीनियों की संख्या प्रायः ४०, ००, ००, ००० जापानियों की ६, ००, ००, ००० कोरियनों की १, ६०, ००, ००० और इण्डो-चीनियों की २, ६०, ००, ००० है। इसके अतिरिक्त चीन की राजनीतिक सीमाओं में प्रायः १, ००, ००, ००० ऐसे आदमी भी रहते हैं, जो चीनी नहीं हैं।

आरम्भ में तो मानों प्रकृति ने ही पीत वर्ण वालों को सारे संसार से अलग कर रखा था। पर बाद में यदि वे चाहते तो अपना एकान्तवास छोड़ कर संसार के और वर्णों के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर सकते थे। पर इन लोगों ने किसी विदेशी के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना ही पसन्द नहीं किया और स्वेच्छा पूर्वक वे सब से अलग रहे। आज से चार सौ वर्ष पहले जब गोरों ने सारे संसार में फैलना आरम्भ किया, तब वे घूमते फिरते पूर्वी एशिया में भी पहुँचे। समुद्र-मार्ग से तो वहाँ कुछ पुर्तगालियों ने प्रवेश किया और स्थल-मार्ग से साइबेरिया के मैदानों से होते हुए कुछ कज़ाक वहाँ घुसे. गोरे विदेशियों के साथ कुछ ही दिन सम्बन्ध रखकर पीत जाति ने निश्चित कर लिया कि हमें इन लोगों के साथ सम्बंध रखने की कोई आवश्यकता नहीं है; और इसीलिए उसने विदेशी गोरों को अपने यहाँ से का-

पूर्वक निकाल दिया। केवल चीनियों ने ही गोरों को अपने यहाँ से नहीं निकाला था, बल्कि जापान, कोरिया और इण्डो चाइना आदि वालों ने भी विदेशियों को अपने यहाँ से निकाल दिया था। वास्तव में बात यह थी कि पीत जाति इन गोरों को बहुत ही भयंकर और नाशक समझती थी। उसकी धारणा थी कि ये गोरे हमारे विकास-मार्ग में बहुत बाधक होंगे; और वह अपनी सभ्यता की इन गोरों के आक्रमणों से रक्षा करना चाहती थी। इसलिए उसने गोरों को अपने यहाँ से निकाल दिया था। तीन सौ वर्षों तक पीत जाति ने इन गोरों को अपने से दूर ही रक्खा और अपने यहाँ फटकने तक न दिया। पर उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य में गोरों ने कल, बल, छल-सभी उपायों से चीन में प्रवेश कर ह लिया और पीत जाति का सारे संसार के साथ सम्बंध स्थापित हो गया।

आरम्भ में जब गोरों ने चीन आदि में बलपूर्वक प्रवेश किया था, उस समय तो वे अपनी सफलता पर फूले न समाते थे; पर अब कुछ गोरों को इस बात का दुःख होता है कि हमने एव एकांतवासी जाति को क्यों जबरदस्ती घसीट कर संसार के प्रवाह में ला डाला। केली नामक एक आस्ट्रेलियन लेखक ने एक बा लिखा था—"एशिया की जातियों के साथ उपयुक्त समय ं पहले ही जबरदस्ती सम्बंध स्थापित करके हम लोगों ने बड़ी भा भूल की है। एशिया वालों की सब से अलग रहने और अप सभ्यता को दूसरों की सभ्यता के प्रभाव से बचाने की नी बहुत ही ठीक थी; और हमने उन पर अपना धर्म, अपनी नी और अपना शिल्प आदि लादने का उद्योग करके बहुत ही ़

किया। एशिया वाले जो हम से अलग रहना चाहते थे, उसका कारण यह नहीं था कि वे हम से अथवा अन्य वर्णों के लोगों के साथ किसी प्रकार की घृणा या द्वेष करते थे, बल्कि उसका कारण यह था कि वे समझते थे कि हमारी सभ्यता का सब से अच्छा विकास तभी हो सकता है, जब हम स्वतंत्र रहें और विदेशियों के साथ किसी प्रकार का सम्बंध स्थापित न करें। यूरोपियनों के हानिकारक बल-प्रयोग ने उनको अपना एकांतवास त्यागने के लिए विवश किया। हमें यह स्वीकृत करने में लज्जित नहीं होना चाहिए कि उनका ख्याल ठीक और हमारा ख़याल गलत है।"

अब चाहे यह काम ठीक हो चाहे गलत, पर हो गया। गोरों ने पीत जाति को जबरदस्ती संसार के अखाड़े में ढकेल दिया। अब वह अपने आप को नवीन राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने के उद्योग में लगी और यह सीखने लगी कि नई विकट परिस्थिति में हमें अपना अस्तित्व किस प्रकार बनाये रखना चाहिए। कहाँ तो वह परम शांति और सुखपूर्वक अपना निर्वाह कर रही थी, और कहाँ अब उसे भौतिक उन्नति तथा आधुनिक विकास करने के लिए बाध्य होना पड़ा। पहले पहल जापान ने गोरों की सब बातें सीखीं और सन् १८९४ में उसने चीन पर तथा उसके दस वर्ष बाद रूस पर विजय प्राप्त करके सारे संसार को यह दिखला दिया कि हमने अपने काम भर के लिए गोरों के सब रंग-ढंग बहुत अच्छी तरह सीख लिये।

जब जापान ने सहज में ही विशाल चीन-साम्राज्य पर विजय प्राप्त कर ली, तब सारा संसार चकित हो गया। सहसा लोगों को यह विश्वास ही नहीं होता था कि जापान वाले इतने थोड़े समय

में गोरों की इतनी अधिक बातें सीख गये होंगे। उस समय भी बहुत से लोग ऐसे थे, जो जापान के वास्तविक बल आदि से अच्छी तरह परिचित नहीं थे और उसको उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। जापान ने चीन पर विजय प्राप्त करके उसका फारमोसा टापू ले लिया था। उस समय एक डच लेखक ने लिखा था कि हालैण्ड को उचित है कि वह जापान से फारमोसा ले ले। नहीं तो बहुत सम्भव है कि वह आगे चल कर डच इण्डीज में बढ़ना चाहेगा। इससे पाठक समझ सकते हैं कि उस समय भी कुछ लोग जापान को तुच्छ और उपेक्षणीय समझते थे और उन्हें यह ज्ञान नहीं था कि जापान से उसका कोई टापू छीनना हँसी खेल नहीं है। उसी समय जापान की प्रवृत्ति अपने प्रसार की ओर हो चुकी थी और वह अपने साम्राज्य का यथेष्ट विस्तार करना चाहता था। एक ओर तो एक डच जापान से फारमोसा छीनने की राय दे रहा था, और दूसरी ओर एक आस्ट्रेलियन ने जापान में यात्रा करने के उपरान्त एक समाचार पत्र में लिखा था—"मैं एक गाड़ी में कुछ जापानी अफसरों के साथ जा रहा था। वे अफसर आपस में आस्ट्रेलिया के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। वे कहते थे कि आस्ट्रेलिया बहुत उत्तम और विशाल देश है। वहाँ खूब बड़े बड़े जंगल और धान आदि की खेती के लिए बहुत अच्छी अच्छी जमीनें हैं। पर वहाँ थोड़े से गोरे जा कर जम गये हैं। घोड़ों के रहने के अस्तबल में मानों कुत्तों ने अड्डा जमा लिया है। इतना बड़ा और बढ़िया देश यों ही खाली पड़ा रहे, यह बड़े ही दुःख की बात है। किसी न किसी को उसका उपयोग करने के लिए उसके किसी अंश पर अधिकार करना पड़ेगा। यदि जापान और

आस्ट्रेलिया में कभी कोई दुर्भाव उत्पन्न हो तो उस समय अधिक बुद्धिमत्ता का काम यही होगा कि लड़ाई के कुछ जहाज आस्ट्रेलिया भेज दिये जायँ और उसके कुछ प्रान्तों पर अधिकार कर लिया जाय।"

जिस समय जापान ने चीन पर विजय प्राप्त की थी, उस समय लोग भले ही जापान के बल के सम्बंध में भ्रम में रहे हों, पर जिस समय उसने रूस पर विजय प्राप्त की, उस समय किसी को उसके बलवान होने में सन्देह नहीं रह गया। पीत जाति ने गोरी जाति पर जो विजय प्राप्त की थी, उसकी दुन्दुभी सारे संसार में गूँज गई। आज कल सारे एशिया में जो जाग्रति हुई है, उसका आरम्भ जापान की इसी विजय से माना जाता है। गोरों की अजेयता, श्रेष्ठता और प्रभुता आदि पर सब से पहला और भीषण आघात जापान ने ही किया था। मेरेडिथ टाउन्सेण्ड ने अपने "एशिया और यूरोप" नामक ग्रंथ की भूमिका में लिखा था—"यह प्रायः एक निश्चित सी बात है कि जापान की इस विजय से युरोप की अधिकांश महाशक्तियाँ दुःखी होंगी। एक आस्ट्रिया को छोड़ कर प्रायः सभी यूरोपियन शक्तियाँ एशिया पर विजय प्राप्त करने का बहुत बड़ा उद्योग कर रही हैं। यह उद्योग इधर दो सौ वर्षों से हो रहा है, पर अब कदाचित् इसका अन्त हो जायगा। चाहे इस समय कुछ भी पता न चलता हो, पर इस में सन्देह नहीं कि आगे चल कर यूरोपियनों को एशिया से निकालने का विचार लोगों में उत्पन्न होगा; और यह विचार एक ऐसे आन्दोलन के कारण जोर पकड़ेगा, जिसका अनुमान अभी बहुत ही कम लोगों को है और जिसके सम्बन्ध में अभी बहुत ही कम

लोगों में बात चीत हुई है। जिन लोगों ने इस प्रश्न पर विचार किया है, उन्हें इस बात में जरा भी सन्देह नहीं है कि यूरोपवालों की तरह एशिया वाले भी यह समझ रहे कि एशिया महादेश केवल एशियावालों के लिए ही है। और जिस घटना से यह सिद्धान्त कुछ भी चरितार्थ होता हो, उस घटना से अवश्य ही एशिया के सभी निवासी प्रसन्न होंगे। इस समय यूरोपियनों के शासनाधिकार में आ जाने के कारण एशिया की जो जातियाँ कष्ट पा रही हैं, उनमें जापान की इन विजयों के कारण अवश्य ही नवीन बल और नवीन जीवन का संचार होगा। उन पराधीन जातियों को इस बात का विश्वास हो जायगा कि हममें भी इतना बल हो सकता है कि हम इन गोरों का विरोध कर सकें; और उनमें भी यह इच्छा उत्पन्न होगी कि हम भी जापान के इस कार्य से शिक्षा ग्रहण करके अपना कुछ काम निकालें। इसमें सन्देह नहीं कि इस नये विचार, इस नई शक्ति के कार्यान्वित होने में अभी बहुत बरस लगेंगे, पर एशिया वालों के लिए देर सबेर कोई चीज ही नहीं है, और जापानियों की भाँति एशिया के अन्यान्य सब निवासियों में भी यह गुण पूर्ण रूप से है कि वे अपना मन्तव्य खूब गुप्त रखें और किसी पर प्रकट न होने दें।"

एशियावालों के भावों के सम्बन्ध में मेरेडिथ टाउन्सेण्ड ने जो कुछ कहा था वह बिल्कुल ठीक था, क्योंकि इसी प्रकार के विचार कई एशिया वालों ने भी समय समय पर प्रकट किये हैं। रंगून से बौद्धों का "बुद्धिज्म" नामक जो समाचार-पत्र निकलता है, उसने भी एक बार यह लिखा था कि एशियावालों को गोरों का विरोध करने के लिए मिलकर एक होना पड़ेगा। १९०५ में

उस पत्र में लिखा गया था—"इस रूस-जापान युद्ध के कुछ ही वर्षों बाद यदि जापान और चीन मिलकर एक हो जायँ और अपनी रक्षा के लिए पूर्वी एशिया के सम्बंध में भी एक नया मनरो-सिद्धांत स्थापित कर लें तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि स्याम भी इस काम में उन दोनों का साथ दे और ये सब मिलकर ऐसे उपाय करें जिनसे यूरोपवाले पूर्वी एशिया की वर्तमान रियासतों की स्वतंत्रता में और अधिक हस्तक्षेप न कर सकें। यूरोपवाले यहाँ की कमजोर जातियों को यह कह कर खूब दबाते हैं कि संसार में जो अधिक बलवान् और योग्य होगा, वही जीवित बचेगा और दुर्बलों तथा अयोग्यों का नाश हो जायगा। वे अपने कार्यों का समर्थन इस सिद्धांत से करते हैं कि भावी मानव-जाति के लिए सर्वश्रेष्ठ यही है कि जो जातियाँ अयोग्य हों, वे नष्ट हो कर स्थान खाली कर दें और वह स्थान उन जातियों को मिले जो सबसे अधिक योग्य हों। यदि आगे चल कर आर्यों और मंगोलियनों में कभी कोई झगड़ा हो तो उस दशा में भी इस सिद्धांत का पूरा पूरा प्रयोग हो सकेगा। यदि दोनों जातियाँ किसी समय सारे संसार के प्रभुत्व के सम्बंध में आपस में लड़ जायँ तो इस सिद्धांत के अनुसार वही जाति जीवित बचेगी जो दोनों में सब से अधिक योग्य होगी। और यदि आर्य जाति नष्ट हो गई और मंगोलियन जाति बच रही तो यही माना जायगा कि मंगोलियन जाति मानव-जाति के लिए कोई भयंकर विपत्ति नहीं है, बल्कि उसका एक श्रेष्ठ अंग है।"

रूस-जापान युद्ध के बाद और यूरोपीय महायुद्ध के पहले पूर्वी एशिया में एक और महत्वपूर्ण घटना हो गई। वह यह कि

१९११ में चीन में राज्यक्रांति हो गई। उन्नीसवीं शताब्दि के अंत में संसार की महाशक्तियाँ आपस में यही सोच समझ रही थीं कि अब चीन बिलकुल नष्ट हो जायगा। चीन का वह विशाल साम्राज्य, जिसमें सारी मानव जाति का एक चतुर्थांश अर्थात् ४०,००,००,००० आदमी बसते हैं, इन गोरों के कथनानुसार इतना अधिक अवनत हो चुका था कि उसके नष्ट हो जाने में अधिक विलम्ब नहीं था। उसके मृतप्राय शरीर के चारों ओर संसार के बड़े बड़े गिद्ध मँडराने लगे थे। और सोच रहे थे कि अभी हाल में हमने जिस प्रकार आफ्रिका को आपस में बाँट लिया है, उसी प्रकार हम चीन को भी बाँट लेंगे। वे पहले से ही यह हिसाब बैठाने लग गये थे कि इसका अमुक अंश हम लेंगे, अमुक तुम ले लेना और अमुक उसको दे दिया जायगा। पर इन गोरों के दुर्भाग्यवश चीन के ऐसे बँटवारे का समय ही न आया। जापानियों की विजय ने चीनियों की आँखे खोल दीं और वे समझने लग गये कि यदि हम इसी समय न सँभल जाँयगे तो हम पर बड़ा भारी संकट आवेगा। पहले पहल चीनियों ने जब सुधार करना चाहा, तब वहाँ की राज—माता ने उसमें बाधा दी। उस बाधा का परिणाम यह हुआ कि चीन में प्रसिद्ध बाक्सर विद्रोह हुआ। उस विद्रोह से चीनियों ने अच्छी शिक्षा ग्रहण की और वे खूब सचेत हो गये। सन् १९०० के बाद से वहाँ नित्य नये सुधार होने लगे पर ये सुधार शासक लोग अपने मन से नहीं करते थे, बल्कि प्रजा के आन्दोलनों से विवश होकर करते थे। प्रजा में दिन पर दिन राष्ट्रीय भावों की खूब वृद्धि होती जाती थी, और वहाँ का मंचू राजवंश प्रजा की माँगों के अनुसार पूरा पूरा सुधार नहीं कर

सकता था। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन में राष्ट्रीयता की जो भीषण लहरें उठ रही थीं, उन्होंने मंचू राजवंश को डुबा दिया और १९११ में वहाँ प्रजातंत्र स्थापित हो गया।

चीन में राज्यक्रांति होने से पहले वहाँ के सुधारों में मंचू राज-वंश बहुत बाधक था। पर उसके लाख बाधा देने पर भी चीन में जितनी जल्दी जल्दी सुधार और उन्नति होती थी, उसे देखकर बड़े बड़े बुद्धिमान् विदेशी दाँतों उंगली दबाते थे। १९११ में चीन के सुपरिचित मि० डब्ल्यू. आर. मैनिंग ने लिखा था—"यदि आज से दस वर्ष पहले चीनी महात्मा कनफ्यूची अपने इस देश में आते तो वे कदाचित् उसे बहुत कुछ उसी दशा में पाते, जिस दशा में वे आज से ढाई हजार वर्ष पहले छोड़ गये थे। पर यदि यहाँ इसी प्रकार उन्नति होती रही और वे यहाँ आज से दस वर्ष बाद आवें तो उनको अपने समय की दशा से इस समय की दशा में आकाश पाताल का अन्तर दिखाई देगा। चीन की परिस्थिति का बहुत अच्छी तरह निरीक्षण करने वाले एच० पी० बीच ने १९०९ के अंत में लिखा था—"जो लोग आज से पचीस वर्ष पहले के चीन की आज के चीन से तुलना करेंगे, उनको सहसा यह विश्वास ही न होगा कि किसी देश में इतने थोड़े समय में भी इतना आर्थिक परिवर्तन हो सकता है। यहाँ तो लोग चीन की इस उन्नति से चकरा रहे थे, और यहाँ उनको और भी चकित करने वाली राज्यक्रांति हो गई। इस राज्य-क्रांति के संबंध में डा० हिलन ने कहा था कि जैसे ठीक मौके पर यह घटना हुई है, वैसे ठीक मौके पर इधर एक हजार वर्षों में और कोई घटना हुई ही नहीं। यद्यपि क्रांतिकारियों ने राजनैतिक

दृष्टि से कई भूलें की थीं, तथापि इसमें संदेह नहीं कि उसका नैतिक परिणाम बहुत ही मार्के का हुआ था। उन दिनों चीन के प्रत्येक प्रांत में नित्य नये पश्चिमी ढंग के सुधार होते थे। उस समय पहलेपहल वहाँ की प्रजा राजनीतिक प्रश्नों पर उचित रूप से विचार करने लगी थी। अब तक तो चीन वाले केवल अपने वंश आदि के कल्याण का ही विचार करते थे, पर अब उनमें सच्ची राष्ट्रीयता के भाव जागृत हो रहे थे और वे वास्तविक देश-हित के कामों में लग गये थे।

जिस समय युरोपीय महायुद्ध आरम्भ हुआ था, उस समय पूर्वी एशिया की यह स्थिति थी। जापान तो आधुनिक ढंग पर चलकर पूर्ण बलवान और संघटित हो चुका था और चीन यद्यपि संघटित नहीं हुआ था, तथापि पूर्ण रूप से जाग्रत अवश्य हो चुका था। महायुद्ध के कारण जापान आप से आप पूर्वी एशिया में सर्वप्रधान बन गया था और वहाँ के प्रश्नों के सम्बंध में युरोपियनों को इस योग्य ही न रहने दिया गया कि वे उन में हस्त-क्षेप कर सकें। उसने चीन पर भी पूरा अधिकार प्राप्त कर लिया। यद्यपि यह अधिकार प्राप्त करने में उसने बहुत कुछ अन्याय और अत्याचार किया था, तथापि उसके वे अन्याय और अत्याचार गोरों के अन्यायों और अत्याचारों से बहुत कम ही थे। जापान ने यह काम इसी लिए किया था कि जिसमें वह चीन की अतुल प्राकृतिक सम्पत्ति का पूर्ण रूप से हरण कर सके, वहाँ के बाजारों में अच्छी तरह अपना माल खपा सके और वहाँ की राष्ट्रीय जाग्रति तथा राज्यक्रांति को ऐसे मार्ग में ले जाय जिसमें आगे चलकर स्वयं जापान की कोई हानि न हो सके।

चीन पर जापान अपना प्रभुत्व भी स्थापित करना चाहता है और साथ ही वह उससे डरता भी है। उसके डरने का कारण यह है कि चीन की जन-संख्या बहुत अधिक है; और यदि चीन अच्छी तरह सैनिक तैयारी कर सके तो आवश्यकता पड़ने पर वह सहज में जापान को नष्ट कर सकता है। चीन में जाग्रति तो हो ही चुकी है और वह अपना सैनिक संगठन भी करने में लगा ही हुआ है। ऐसी दशा में उसके पड़ोसियों का उससे सशंकित होना कुछ भी आश्चर्यजनक नहीं है। उधर जापान यह चाहता है कि चीन पर हमारा पूरा पूरा प्रभुत्व स्थापित हो जाय। इसलिए चीन वाले जापान के विरोधी हो रहे हैं। चीन के अधिकारों में जापान जो हस्तक्षेप करता है, उससे चीन वाले मन ही मन बहुत कुढ़ते हैं। लेकिन इतना होने पर भी जापान यह समझता है कि हमें जोखिम सह कर भी चीन पर अधिकार प्राप्त करना चाहिए। इस समय महाशक्तियाँ बहुत कुछ जापान के पक्ष में हैं। इसके अतिरिक्त और परिस्थितियाँ भी उसके अनुकूल ही हैं। इसलिए उसको पूरी आशा है कि चीन पर अधिकार जमाने में उसे पूरी सफलता होगी। चीन के पुराने इतिहास को देखते हुए वह यह भी समझता है कि चीन वालों का यह नियम है, कि पहले तो वे आक्रमणकारियों का खूब विरोध करते हैं, पर अन्त में जब वे यह देखते हैं कि हमारे विरोध का कोई परिणाम नहीं निकल सकता, तब वे आक्रमणकारियों का प्रभुत्व भी स्वीकृत कर लेते हैं। जापान का एक उद्देश्य यह भी है कि पूर्वी एशिया से गोरे निकाल दिये जावें, और वहाँ पीत जाति को अपने प्रसार का यथेष्ट अवसर मिले। वह समझता है कि हमारे इस उद्देश्य की सिद्धि में पीत जाति के

लोग और विशेषतः चीनी पूरे सहायक होंगे। यदि चीन अपनी इस राष्ट्रीय जाग्रति के समय गोरों का विरोधी हो जाय और अपने देश-हित के विचारों के कारण समस्त पीत जाति में एकता स्थापित करने के उद्योग में लग जाय तो जापान को सहज में ही बड़ी भारी विजय प्राप्त हो सकती है। इससे उसका बल बहुत बढ़ जायगा और उसे अपने विस्तार का यथेष्ट अवसर मिलेगा।

उधर चीन भी यह बात अच्छी तरह समझता है कि यदि इस समय हम और जापान मिल कर एक हो जायँ तो हमारा बहुत बड़ा लाभ हो सकता है। अधिकांश चीनियों का यही विश्वास है हम में शासकों को भी हजम कर जाने की शक्ति है। जापान के साथ हमारे मिलने की शर्तें चाहे कैसी ही क्यों न हों, पर अन्त में हमें लाभ का पूरा पूरा अंश मिलेगा ही। इस बात में किसी को भी संदेह नहीं हो सकता कि चीन वाले बहुत अधिक मितव्ययी होते हैं। इसका कारण यह है कि वे बहुत दिनों से अपेक्षाकृत बहुत ही थोड़े स्थान में बहुत अधिक संख्या में रहकर निर्वाह करते आये हैं। जितने थोड़े स्थान में जितने अधिक चीनियों ने आज तक निर्वाह किया है, उतने थोड़े स्थान में उतने अधिक आदमियों ने आज तक निर्वाह नहीं किया होगा। इसलिए कठिन से कठिन आर्थिक परिस्थितियों में रह कर भी वे बहुत अच्छी तरह अपना काम चला सकते और चलाते हैं। अपने देश में तो चीनियों की अवस्था भूखों मरने वालों से कदाचित् ही कुछ अच्छी रहती है; और जब वे दूसरे सुखी और सम्पन्न देश में जा पहुँचते हैं, तब वे परिश्रमी होने के कारण वहाँ खूब काम भी करने लगते हैं और कमा कर खूब बचत भी करते हैं।

उस समय दूसरे देशों के लोग उनके मुकाबले में बिलकुल नहीं ठहर सकते। यही कारण है कि सभी देशों के लोग चीनी मजदूरों से घबराते हैं और जहाँ तक हो सकता है, उनको दूर ही रखना चाहते हैं। एक चीनी डाक्टर ने अपने देशवासियों के सम्बन्ध में कहा है—"यह बात अनुभव से सिद्ध हो चुकी है कि चीनी लोग सभी प्रकार का परिश्रम कर सकते हैं और प्रतियोगिता में सब से आगे रहते हैं, सब को हरा सकते हैं। वे परिश्रमी समझदार और व्यवस्थित होते हैं। वे ऐसी ऐसी अवस्थाओं में भी काम कर सकते हैं जिनमें कम परिश्रमी जातियों के लोग शायद मर जायँ। वे जलती हुई आग में भी रह सकते हैं, और शरीर को गलाने वाले बरफ में भी रह सकते हैं। वे केवल थोड़ा सा चावल खाकर ही दिन रात निरन्तर परिश्रम कर सकते हैं।" वास्तव में अनेक विदेशियों का भी चीनियों के सम्बन्ध में यही विश्वास है। आस्ट्रेलिया के पिर्सन नामक एक विद्वान् ने भी आज से बहुत पहले चीनियों के सम्बन्ध में अपनी एक पुस्तक में कुछ इसी प्रकार के विचार प्रकट किये थे। वे तिब्बत की अधित्यका में भी रह सकते हैं और सिंगापुर की गरमी में भी। वे मजदूरों के काम के लिए भी अच्छे होते हैं और जल तथा स्थल सेना के काम के लिए भी बहुत उपयुक्त होते हैं। व्यापार करने का गुण तो उनमें इतना अधिक होता है कि जितना पूर्व की किसी जाति में नहीं होता। उन्हें अपना भविष्य सुधारने के लिए किसी प्रकार सहायता की आवश्यकता ही नहीं होती। हन नामक एक और विद्वान् ने चीनियों के सम्बन्ध में कहा है—"वे हजारों वर्षों से करोड़ों की संख्या में व्यवस्थित रूप से अविरत परिश्रम करते

आये हैं। वे इतने मितव्ययी होते हैं कि अपने सुख का कुछ भी ध्यान नहीं रखते। वे ऐसी अवस्थाओं में भी बहुत अच्छी तरह रहते हैं जिनमें हमारे यहाँ के मजदूरों की जान निकल जाय।" तात्पर्य यह कि वे बहुत ही साधारण जीवन व्यतीत करने के लिए अधिक से अधिक परिश्रम कर सकते हैं।

चीनियों में जो यह सहनशीलता और मितव्यय की विशेषता है, उसके कारण वे केवल अन्य वर्णों के लोगों से बढ़ कर ही नहीं हैं, बल्कि पीतवर्ण के ही अपने दूसरे भाइयों-जैसे जापानियों स्यामियों-आदि से भी बढ़ कर हैं। इस बात में उन्होंने जापानियों को भी मात करके दिखला दिया है। जहाँ जहाँ चीनियों और जापानियों का परिश्रम, सहनशीलता और मितव्यय आदि में मुकाबला हुआ है, वहाँ वहाँ चीनियों की पूर्ण विजय हुई है। जापान के कोरिया और फारमोसा आदि उपनिवेशों में भी, जहाँ जापान सरकार जापानियों को सदा सब तरह के सुभीते देने के लिए तैयार रहती है, चीनियों की ही विजय हुई है और जापानी उनके मुकाबले में नहीं ठहर सके हैं। जो जापान अपने यहाँ गोरे मजदूरों को जल्दी घुसने नहीं देता और उनका सदा विरोध करता है, उसे भी विवश होकर सस्ते चीनी मजदूरों को, रोकने के लिए विकट कानून बनाने पड़े हैं। ऐसी दशा में चीन वालों का यह समझना बहुत ही ठीक है कि यदि जापानी लोग हमारे गोरे विरोधियों को दबा देंगे तो उससे अन्त में लाभ हमारा ही होगा। क्योंकि उस समय हम जापानियों को भी प्रतियोगिता में दबा लेंगे। इतना सब कुछ होने पर भी चीनी और जापानी वास्तव में एक ही हैं, क्योंकि दोनों की जाति, वंश और सभ्यता आदि

बिलकुल वही है। आपस में वे दोनों चाहे कितना ही क्यों न लड़ें, झगड़ें, पर फिर भी अवसर पड़ने पर वे सहज में समझौता कर सकते हैं और सम्भवतः समझौता कर भी लेंगे। एक बात पूर्ण रूप से निश्चित है। वह यह कि दोनों की जनसंख्या बहुत अधिक है और दोनों के पास रहने के लिए बहुत ही थोड़ा स्थान बच गया है, इसलिए दोनों ही अनिवार्य रूप से अपने निवास-स्थान का प्रसार करना चाहेंगे। ऐसी दशा में इस समय चीन और जापान में जो राजनीतिक वैमनस्य चल रहा है, वह कभी स्थायी नहीं हो सकता। और बहुत सम्भव है कि आगे चल कर जापान की पर-राष्ट्रीय नीति और उच्चाकांक्षाओं में चीन भी सम्मिलित होकर उसका साथी बन जाय। दोनों मिलकर, कम से कम इन गोरों के लिए, एक हो जायँ।

जापानी चाहते हैं कि पूर्वी एशिया में गोरों का कुछ भी अधिकार न रह जाय और वे वहाँ से सदा के लिए बिलकुल निकल जायँ। पूर्वी एशिया में जापानी अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हैं। इस आकांक्षा में उनके साथ पूर्वी एशिया के अन्य देशों के निवासियों की तो सहानुभूति हो ही सकती है। कदाचित् एशिया की अन्य जातियों की भी सहानुभूति हो सकती है। क्योंकि वे भी तो इन गोरों के बोझ से बेतरह दब रही हैं। जापान की पर राष्ट्रीय नीति का दूसरा उद्देश्य यह जान पड़ता है कि पूर्वी एशिया में इस समय जो स्थान गोरों के अधिकार में हैं, वे उनसे छीन लिये जायँ और वहाँ से वे निकाल दिये जायँ। यहाँ तक तो जापानियों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। इसके बाद कुछ जापानी तो ऐसे हैं जो यह चाहते हैं कि संसार की सब

जातियों में समानता का व्यवहार हो और हमें भी गोरों के देश में जाकर स्वतन्त्रता पूर्वक रहने का अधिकार मिले। और कुछ जापानी ऐसे भी हैं जो यूरोपियन साम्राज्यवादियों की तरह सारे संसार में अपना ही साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं और सब देशों को जीत कर अपने अधिकार में लाना चाहते हैं। उनकी यह आकांक्षा अनुचित तो है ही; क्योंकि इससे वर्तमान संसार के सभी दोष और भी बढ़ सकते हैं, पर साथ ही यह कुछ असम्भव भी है। असम्भव इसलिए कि संसार साम्राज्यवाद और अधिकार-लिप्सा के दुष्परिणाम अच्छी तरह भोग चुका है। अब कदाचित् वह इनके फेर में न पड़ेगा। अब तो संसार कुछ वास्तविक और स्थायी शान्ति चाहता है; और वह शान्ति तभी मिल सकती है जब प्रभुता और अधिकार कुछ घटे और समानता तथा भ्रातृभाव कुछ बढ़े। हम यहाँ यह भी बतला देना चाहते हैं कि ऐसे जापानी बहुत ही कम हैं जो सारे संसार में अपना ही साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं, पर फिर भी वे हैं बहुत ही शक्तिमान् और सरकार पर उन्हीं का सब से अधिक प्रभाव पड़ता है। हमें आशा करनी चाहिए कि आगे चल कर जापान में भी ऐसे साम्राज्यवादियों की संख्या बिलकुल घट जायगी और भावी युग साम्राज्यवाद के नाश का ही युग होगा।

यों तो महायुद्ध से दस बारह वर्ष पहले ही लोगों को जापानियों की उच्चाकांक्षाओं का पता लग चुका था, पर महायुद्ध के समय से तो वे उसे कार्य-रूप में ही परिणत करने लग गये हैं। रूस पर विजय प्राप्त करते ही जापान ने पूर्वी एशिया में अपना अधिकार बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। उसने एशिया के अन्यान्य

देशों के साथ घनिष्ठता बढ़ाने के विशेष उद्योग आरम्भ कर दिये थे। जापान अपने यहाँ के विश्व-विद्यालयों में पढ़ने के लिए एशिया के अन्यान्य देशों के विद्यार्थियों को बुलाता था और एशिया के हजारों विद्यार्थी वहाँ विद्याध्ययन के लिए जाने भी लगे थे। इसके अतिरिक्त जापान में अनेक ऐसी सभाएँ आदि भी बन गई जो चीन, स्याम और यहाँ तक कि भारत के साथ भी आर्थिक तथा सामाजिक आदि बन्धन दृढ़ करने का उद्योग करती थीं। प्रसिद्ध काउण्ट ओकुमा ने तो एक ऐसी सभा स्थापित कर दी, जो एशिया के सभी देशों और सभी जातियों में एकता उत्पन्न करना चाहती है। यद्यपि अभी तक ये सभाएँ आदि विशेष प्रसिद्ध नहीं हुई हैं, तथापि इन सभाओं के सम्बन्ध में कुछ बातें जानने योग्य हैं। प्रशान्त महासागर सम्बन्धी एक सभा का उद्देश्य इस प्रकार है—"इधर सौ वर्षों से प्रशान्त महासागर एक युद्ध-क्षेत्र बना हुआ है, जिसमें सभी राष्ट्र आ आकर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए लड़ते झगड़ते हैं। आज कल किसी राष्ट्र की उन्नति अथवा अवनति केवल इसी बात पर निर्भर है कि प्रशान्त सागर में उसका बल कितना है। जिसके पास प्रशान्त सागर का साम्राज्य होगा, वही सारे संसार का स्वामी होगा। जापान उस प्रशान्त महासागर के ठीक मध्य में है, इसलिए उसे प्रशान्त महासागर सम्बन्धी प्रश्नों पर अपनी स्पष्ट और विचार पूर्ण सम्मति प्रकट करनी चाहिए।"

जापान में एक इण्डो-जापानी एसोसिएशन भी है। ब्रिटिश साम्राज्य के साथ जापान का जो राजनीतिक सम्बन्ध है, उसे देखते हुए इस सभा की कार्रवाइयाँ कुछ विलक्षण ही जान पड़ती

हैं। उसकी नियमावली में, कदाचित् काउण्ट ओकुमा के हाथ का लिखा हुआ ही एक अंश इस प्रकार है—"जन्मतः सब लोग समान हैं। एशिया वालों को भी मनुष्य कहलाने का उतना ही अधिकार है जितना कि यूरोपवालों को है। इसलिए यह बात बहुत ही अनुचित है कि यूरोपवालों को एशियावालों पर शासन करने का कोई अधिकार प्राप्त हो।" इस लेख में इंग्लैण्ड और भारत के राजनीतिक सम्बन्ध का कोई उल्लेख नहीं है। एक बार १९०७ में काउण्ट ओकुमा ने भारत के सम्बंध में लिखा था—" भारत के तीस करोड़ निवासी इन यूरोपियनों के द्वारा त्रस्त हो रहे हैं और वे रक्षा के लिए जापानियों का मुँह ताकते हैं। उन्होंने यूरोप की बनी हुई चीजों का बहिष्कार आरम्भ कर दिया है। ऐसे अवसर पर यदि जापानी चूक जायँगे और भारत में न जा पहुँचेंगे तो भारतवासी निराश हो जायँगे। प्राचीन काल से ही भारत बहुत ही सम्पन्न देश है। सिकन्दर को वहाँ इतना खजाना मिला था जो सौ ऊँटों पर लादा गया था और महमूद तथा अटिला ने वहाँ से बहुत अधिक सम्पत्ति प्राप्त की थी। इस समय तो भारतवासी हमारी ओर टक लगाये देख रहे हैं। ऐसी दशा में हम लोग भी उस देश तक अपना हाथ क्यों न फैलावें ? जापानियों को भारत, दक्षिणी महासागर तथा संसार के और और भागों में जाना चाहिए।"

१९१० में बील नामक एक अंगरेज विचारवान् ने लिखा था—"अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रहा गया कि खूब सोच समझकर, चुपचाप और बहुत ही चालाकी के साथ एक नई चाल चली जा रही है। जापान चाहे इससे कितना ही इन्कार क्यों न

करे, पर यह बात बिलकुल ठीक है कि पूर्वी एशिया की सभी पाठशालाओं और समाचारपत्रों पर जापान का पूरा पूरा प्रभाव है और उन पाठशालाओं के शिक्षकों तथा उन समाचारपत्रों के सम्पादक ही नहीं, बल्कि वहाँ के व्यापारी तथा यात्री आदि भी लोगों को यही समझाते हैं कि एशिया केवल एशियावालों के लिए ही है।"

जापान की कृपा से पूर्वी एशिया में अब यह भाव अच्छी तरह फैल गया है कि हमारे देश में विदेशियों का अधिकार नहीं होना चाहिए। यही कारण है कि महायुद्ध के कुछ पहले ही पूर्वी एशिया के यूरोपियन उपनिवेशों में वहाँ के मूल निवासियों में गोरों के विरुद्ध बहुत कुछ असन्तोष उत्पन्न हो गया था। १९०८ में फ्रान्सीसियों के इण्डो-चाइना में इतना अधिक असन्तोष फैला था कि फ्रान्स को वहाँ और दस हजार नये सैनिक भेजने पड़े थे; और यद्यपि उस समय वे उपद्रव शान्त कर दिये गये थे, तथापि १९११ और १९१३ में वहाँ फिर नये षड्यंत्रों का पता लगा था। डच इण्डीज में भी इसी प्रकार के असन्तोष के अनेक लक्षण दिखाई पड़े थे और फिलिपाइन्सवाले भी स्वतंत्र होना चाहते थे। इन सब का मुख्य कारण यही था कि वहाँ के मूल-निवासी अपने गोरे शासकों के दिन पर दिन बढ़ते हुए अत्याचारों से तंग आ गये थे और गोरों का बोझ उनके लिए असह्य होता जाता था। जापान को इस प्रकार के असंतोष का उत्तरदायी कहना कभी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि असंतोष का मुख्य कारण वहाँ के गोरे शासक थे। जापान से तो उनको केवल यही शिक्षा मिली थी कि इस बोझ और दासता से किसी प्रकार बचना चाहिए।

पूर्वी एशिया के निवासियों में स्वतंत्रता के जो भाव उत्पन्न हो रहे थे, उन को देखकर पहले से ही कुछ गोरे विचारवान् सशंकित होने लग गये थे। महायुद्ध के आरम्भ होने के थोडे ही दिनों बाद व्हेटल्ले नामक एक अंगरेज ने अपने East and West (पूर्व और पश्चिम) नामक ग्रंथ में लिखा था—पश्चिमी विचारों के प्रचार के कारण पूर्वी एशिया में एक ऐसी जाग्रति और एकता उत्पन्न हो रही है जो पूर्वी विचारों और उपायों से कभी हो ही नहीं सकती थी। यूरोपवाले यह देखकर बहुत ही संतुष्ट और प्रसन्न होते हैं कि हमने एशियावालों को अपने नये मार्ग पर लगा लिया, उनको आधुनिक रीति-भांति सिखला दी। पर जान पडता है कि ऐसे संतुष्ट होने वालों में समझ की कमी है; क्योंकि अभी हाल में जापान, चीन, पूर्वी साइबेरिया और फिलिपाइन्स में जो घटनाएँ हुई है, उनका ठीक ठीक अभिप्राय वे लोग नहीं समझते। पहले यूरोप के बलवान् राष्ट्र पूर्वी एशिया में फूट नहीं उत्पन्न करना चाहते थे और दूसरी बातों में मनमानी चालें चलते थे। अब वहाँ के लोगों में जातीयता-सम्बन्धी वह पुरानी एकता तो बनी ही हुई है। साथ ही राजनीतिक तथा आर्थिक आदि बातों में भी नई एकता उत्पन्न हो रही है। आगे चल कर यह एकता इतनी बढ़ जायगी कि फिर पूर्वी एशिया सम्बन्धी बातों में यूरोपवालों को हस्तक्षेप करने का बहुत ही कम अधिकार रह जायगा। बल्कि सच तो यह है कि यह अवस्था इसी समय पहुँच गई है। और अब तो केवल इस बात की परीक्षा की ही देर है। ज्यों ही वह परीक्षा का समय आवेगा, त्यों ही पूर्वी एशियावाले सारे संसार पर यह बात प्रमाणित कर देंगे कि हमारे

कामों में यूरोपवालों का हस्तक्षेप अनुचित और असह्य है और हम उस हस्तक्षेप को बिलकुल नहीं मानते।"

जापान के भिन्न भिन्न राजनीतिक दलों में अपने साम्राज्य की भावी वृद्धि के सम्बन्ध में जो मत-भेद है, उसी मत-भेद के अनुसार यूरोपियन शक्तियों के साथ उनके व्यवहारों तथा भावों आदि में भी अन्तर है। इस शताब्दि के आरम्भ से ही वहाँ की सरकार की पर-राष्ट्रीय नीति इंग्लैंड के साथ मित्रता बढ़ाने के पक्ष में ही रही है। इसीलिए उसने १९०२ में इंग्लैण्ड के साथ मित्रतापूर्ण सन्धि की थी, जो १९११ और १९२१ में दोहराई गई थी। १९०२ में इंग्लैण्ड और जापान के साथ जो सन्धि हुई थी, उससे जापान की प्रजा बहुत ही प्रसन्न और संतुष्ट थी। वह संधि रूस के आक्रमणों आदि से बचनेके लिए की गई थी और उससे पता चलता था कि जापान और इंग्लैण्ड दोनों को ही रूस से भय है। पर १९११ में वह परिस्थिति बिलकुल ही बदल गई थी। पूर्वी एशिया में, और विशेषतः चीन में जापान ने जो अपना प्रसार और अधिकार करना चाहा था, उसके कारण दूर दूर तक घबराहट फैल गई थी और पूर्वी एशिया में रहने वाले अंगरेज प्रायः कहा करते थे कि इंग्लैण्ड ने जापान के साथ फिर से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करके बड़ी भारी भूल की है। इसी प्रकार जापान में भी इस सन्धि के दोहराये जाने पर खूब विरोध हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ के सरकारी समाचारपत्र बराबर इस बात पर जोर दिया करते थे कि जापान सरीखे द्वीप के साम्राज्य के लिए यह बहुत ही आवश्यक है कि वह समुद्रों के स्वामी इंग्लैण्ड के साथ मित्रता रखे, पर चारों सार्वजनिक समाचारपत्र सन्धि के दोहराये जाने का विरोध करते हुए

वर अंगरेजों को इस बात के लिए स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दिया करता था कि तुम लोग हमारे मार्ग में बाधक न होना। जापान ने निरन्तर कई चुनौतियाँ देकर चीन को अपनी आज्ञा मानने के लिए विवश किया था। उसकी इन चुनौतियों के सम्बन्ध में अंगरेजी समाचारपत्रों में खूब टीका-टिप्पणियाँ हुई थीं। उन टीकाओं आदि से जापानी बहुत नाराज हुए थे। उनकी उस नाराजी का कुछ पता टोकियो के 'Universe' (यूनिवर्स) नामक पत्र के नीचे लिखे लेख से मिल सकता है जो अप्रेल १९१५ में प्रकाशित हुआ था। उस लेख में कहा गया था—"हमारे कुछ अंगरेज विरोधी शायद यह चाहते हैं कि चीन से हम जो काम करा रहे हैं, उसका वे विरोध करें। पर अंगरेज शायद यह बात भूल गये हैं कि जापान ने उनके साथ मित्रता करके १९०५ में रूस के विरुद्ध इंगलैण्ड की बहुत बड़ी सेवा की थी और इस युद्ध में भी वह इंगलैण्ड के प्रशांत महासागर और पूर्वी उपनिवेशों की रक्षा करके उनकी बहुत बड़ी सहायता कर रहा है। जापान ने इंगलैण्ड के साथ इसी लिए मेल किया था कि जिसमें चीन में रूस अपना प्रसार न कर सके और जापान को वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित करने का यथेष्ट अवसर मिले। आज अंगरेज लोग जापान के कार्यों का समर्थन नहीं कर रहे हैं और जापान के प्रति उनका जो कर्त्तव्य था, उसकी उपेक्षा कर रहे हैं। लेकिन इंगलैण्ड को सावधान हो जाना चाहिए। यदि वह कुछ भी विचलित होगा तो जापान उसे सहन न कर सकेगा। जापान इस समय अंगरेजों का साथ छोड़कर रूस के साथ मिलने के लिए बिलकुल तैयार है; क्योंकि रूस के साथ पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में जापान का अच्छी तरह समझौता हो सकता

है। आगे चलकर यदि काम पड़े तो वह जरमनी के साथ मिलने के लिए भी बिलकुल तैयार है। उस दशा में अंगरेजों के उपनिवेश बहुत ही संकट में पड़ जायँगे।"

इस पत्र ने रूस के साथ जापान के मिल जाने के सम्बन्ध में जो भविष्यद्वाणी की थी, वह आगे चलकर बिलकुल ठीक उतरी। क्योंकि उसके एक ही वर्ष बाद जुलाई १९१६ में जापानी और रूसी सरकारों के एक राजनीतिक लेख पर हस्ताक्षर हो गये और इस प्रकार मानों दोनों शक्तियों में मित्रता स्थापित हो गई। उस लेख के द्वारा रूस ने यह बात मंजूर कर ली थी कि अधिकांश चीन में जापान के अधिकार ही प्रधान हैं; और जापान ने यह स्वीकार कर लिया था कि मंगोलिया और तुर्किस्तान में, जो चीन के अधीनस्थ पश्चिमी राज्य हैं, रूस को विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं। इस प्रकार जापान ने पूर्वी एशिया से एक और गोरी शक्ति को निकाल बाहर किया; क्योंकि चीन पर अधिकार प्राप्त करने की रूस की बहुत दिनों से इच्छा थी; और इसी लिए १९०४ में रूस और जापान में युद्ध हुआ था। पर इस नये समझौते के कारण रूस ने चीन पर अधिकार प्राप्त करने का विचार छोड़ दिया था।

इस बीच में जापानी समाचारपत्र बराबर अंगरेजों का विरोध करते चलते थे। उस विरोध का एक नमूना देखिए। टोकियो के एक समाचारपत्र के सम्पादक ने १९१९ में लिखा था—ग्रेट ब्रिटेन हृदय से कभी यह नहीं चाहता था कि जापान के साथ मित्रता स्थापित की जाय। वह कभी हमारे साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना नहीं चाहता; क्योंकि मन ही मन वह यह समझता था कि जापान एक ऐसी उठने वाली शक्ति है जो वर्ण और धर्म आदि के विचार से

हम से नितान्त भिन्न है। उसने तो केवल परिस्थितियों के कारण विवश होकर हमारे साथ मित्रता की थी। यदि हम यह समझते हों कि इङ्गलैण्ड को सचमुच हमारी मित्रता का ध्यान था, तो यह हमारी बड़ी भारी भूल है; क्योंकि वास्तव में वह कभी हम से मित्रता स्थापित करना नहीं चाहता था। एक ओर तो उसे भारत और फारस में रूस का डर था और दूसरी ओर उसे जरमनों के बढ़ने का भय था। और इसीलिए उसने विवश होकर हम से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित किया था।" उन्हीं दिनों जापान में जरमनी के संबंध में भी बहुत सी अच्छी अच्छी बातें कही जाती थीं। युद्ध-काल में जापान ने कभी जरमनों के साथ वास्तविक वैमनस्य या शत्रु-भाव नहीं प्रकट किया। इसमें संदेह नहीं कि जापान ने जरमनी को बड़े अच्छे ढंग से पूर्वी एशिया से निकाल बाहर किया। पर क्याऊचाऊ में उसने जरमनों के साथ जो युद्ध किया था, उसमें उसने जरमनों के प्रति कुछ भी घृणा या तिरस्कार का भाव नहीं प्रकट किया था। युद्ध में जो जरमन क़ैदी पकड़े गये थे, उनके साथ बहुत ही सम्मानपूर्वक व्यवहार किया गया था और जापान में जो जरमन नागरिक रहते थे, उनको किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया गया था। जापानी लेखक साफ़ कहा करते थे कि जब जरमनी पूर्वी एशिया के साथ कोई सम्बंध न रखे और यह बात मान ले कि चीन में जापान को विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं, तब फिर कोई कारण नहीं है कि जापान और जर्मनी में मित्रता स्थापित न हो। दोनों सरकारों में ग़ैर-सरकारी तौर पर कुछ बातें भी हुई थीं और आज तक इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला कि उन दोनों में किसी प्रकार का दुर्भाव है।

१९१७ में तीन ऐसी बड़ी घटनाएँ हुईं जिनका सारे संसार की परिस्थिति पर विशेष प्रभाव पड़ा। एक तो युद्ध में अमेरिका सम्मिलित हुआ, दूसरे चीन ने भी उसका साथ दिया; और तीसरे रूस में राज्यक्रांति हुई। अमेरिका और चीन का युद्ध में सम्मिलित होना जापान को बहुत ही नापसंद हुआ। जो अमेरिका युद्ध के लिए पहले कुछ तैयार न था, वही बात की बात में प्रथम श्रेणी का योद्धा बन गया था जिससे पूर्वी एशिया की परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन होने की सम्भावना हो गई थी। उधर जो चीन पहले राजनीतिक दृष्टि से बिलकुल अकेला पड़ता था, वही अब महायुद्ध में सम्मिलित होने के कारण मित्र राष्ट्रों का साथी बन गया था और वहाँ उसे दो एक मित्र तथा सहायक भी मिल गये थे। यद्यपि उन लोगों की मित्रता अथवा सहायता आगे चल कर बेचारे चीन के कुछ भी काम न आई, तथापि जापान ने उसके महायुद्ध में सम्मिलित होने का घोर विरोध किया था। जब रूस में राज्य-क्रांति हो गई, तब जापान फिर घबराया। १९१६ में तो वह रूस की जारशाही से समझौता कर ही चुका था, पर अब वह जारशाही नष्ट हो गई थी और उसका स्थान नई साम्यवादी सरकार ने ले लिया था। इसलिए जापान को यह चिंता हो रही थी कि यह नई सरकार कैसी होगी, इसके भाव कैसे होंगे, इसका बल कितना होगा, आदि आदि।

पर आगे चलकर जब रूस में एक प्रकार की अराजकता फैल गई, तब जापान को अपने प्रसार के लिए नये नये क्षेत्र दिखलाई देने लगे। उत्तरी मंचूरिया और पूर्वी साइबेरिया बिलकुल खाली पड़ा था और वहाँ की सम्पत्ति देख देख कर बहुतों के मुँह

में पानी भर आता था। उस अवसर पर जापानी साम्राज्यवादी तुरंत आगे बढ़ आये और इस बात के लिए आंदोलन करने लगे कि इस समय जापान सरकार को आगे बढ़ कर अपना उद्देश्य सिद्ध करना चाहिए। उस समय रूस में उन बोल्शेविकों की तूती बोल रही थी जो मित्र-राष्ट्रों के विरोधी और जरमनों के पक्षपाती हो गये थे। मित्रों को बोल्शेविकों से बहुत भय था। अतः उनकी गति रोकने के लिए उन्होंने निश्चित किया कि साइबेरिया में सभी राष्ट्रों की सम्मिलित सेना भेजी जाय। बस जापान को बहुत अच्छा अवसर मिल गया और उसने मित्र-राष्ट्रों के पारस्परिक निश्चय की उपेक्षा करते हुए साइबेरिया में अपनी बहुत बड़ी सेना भेज दी और उसके पश्चिम में बैकाल झील तक मानों अपना अधिकार कर लिया और सारा साइबेरिया ही ले लिया। यह बात १९१८ की वसंत ऋतु की है। उस समय मित्र-राष्ट्रों का जरमनों के साथ घोर युद्ध चल रहा था, इसलिए उनको इतना साहस भी न हुआ कि जापान का विरोध तो करें। पर आगे चल कर जब अमेरिका की कृपा से युद्ध का रुख कुछ पलटा और मित्रों की जीत होने लगी, तब मित्रों ने जापान से कैफियत तलब की। इस बात का नेतृत्व अमेरिका ने ग्रहण किया था; क्योंकि वह जापान का पुराना शत्रु था। उस समय जापान के सम्राज्यवादियों और नरम दलवालों में खूब वादविवाद आरंभ हुआ। नरम दलवाले कहते थे कि हमें साइबेरिया से अपनी सेनाएँ वापिस बुला लेनी चाहिएँ और साम्राज्यवादी कहते थे कि इस अवसर पर हमें पीठ नहीं दिखानी चाहिए; और यदि अवसर पड़े तो इसके लिए अमेरिका तक से लड़ जाना चाहिए। पर इसी बीच में समाचार आ

गया कि जरमनी ढीला पड़ गया और बैठना चाहता है। उस समय नरम दलवालों की बन आई और साइबेरिया से बहुत सी जापानी सेनाएँ वापस बुला ली गईं। लेकिन फिर भी वहाँ अधिक सैनिक बल जापान का ही था।

जरमनी के अचानक बैठ जाने और युद्ध के सहसा समाप्त हो जाने से मानों जापान के सभी मन्सूबों और सभी आशाओं पर पानी फिर गया। यद्यपि सरकार ने अपनी ओर से यही प्रकट करने का उद्योग किया कि हमें इस युद्ध की समाप्ति से कोई दुःख नहीं नहीं हुआ, तथापि जापानी प्रजा अपनी निराशा न छिपा सकी। बात यह थी कि युद्ध से जापान को लाभ ही लाभ था। युद्ध की कृपा से वह आप से आप पूर्वी एशिया का स्वामी भी बन गया था और बहुत अधिक धनवान भी हो गया था। ज्यों ज्यों युद्ध के दिन बीतते जाते थे, त्यों त्यों गोरी शक्तियाँ निर्बल होती जाती थीं और जापान का बल बढ़ता जाता था। जापान को आशा थी कि अभी यह युद्ध कम से कम एक वर्ष और चलेगा। ऐसी दशा में यदि युद्ध के सहसा समाप्त हो जाने से जापानी दुःखी और निराश हुए हों तो इसमें किसी को आश्चर्य न होना चाहिए।

जापान की इस परराष्ट्र नीति से कम से कम एक बात का तो पता अवश्य ही चलता है। वह यह कि पूर्वी एशिया में वह केवल अपना ही पूरा पूरा अधिकार रखना चाहता है और गोरी शक्तियों का वह वहाँ कुछ भी हस्तक्षेप नहीं चाहता। लेकिन उसके इस उद्देश्य के कारण गोरों को उससे नाराज नहीं होना चाहिए। हम यह मानते हैं कि जापान की इस उच्चाकांक्षा के कारण पूर्वी एशिया में गोरों के हित की हत्या होती है। हम यह भी मानते हैं

कि इसके कारण गोरों तथा जापान में प्रतियोगिता बढ़ने तथा युद्ध छिड़ने की भी सम्भावना है। लेकिन कोई कारण नहीं है कि इसके लिए जापानी दोषी ठहराये जायँ, या दुष्ट बतलाये जायँ। सभी जातियों को अपनी रक्षा और उन्नति करने का समान अधिकार प्राप्त है। पर किसी को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वह बल-पूर्वक दूसरों को नष्ट होने के लिए विवश करे। सब लोग अपनी रक्षा भी करना चाहेंगे और अपना प्रसार भी। जो अपनी रक्षा करना चाहे, उसे स्वार्थी कहना और जो अपनी उन्नति करना चाहे उसे अपराधी ठहराना बड़ी भारी मूर्खता है। ऐसा करने से वैमनस्य, दुर्भाव आदि की ही वृद्धि होती है। गोरे तो पश्चिमी युरोप से चलकर पूर्वी एशिया में अपना अधिकार जमावें और फिर भी सभ्य, शिक्षित तथा परोपकारी कहलावें; और वहीं की रहने वाली पीत जातियाँ यदि अपनी रक्षा और उन्नति के विचार से वहाँ अपने पैर जमाना चाहें तो गोरे उन्हें दुष्ट और स्वार्थी बतलावें! यह कहाँ का न्याय है! अब वह समय आ रहा है जब कि इन गोरों की मदान्धता के कारण सारे संसार में घोर विरोध और वैमनस्य फैलेगा और कदाचित युद्ध भी होंगे। यदि गोरे अभी से सँभल जायँगे और बुद्धिमत्ता से काम लेंगे तो संसार अनेक अनर्थों और हानियों से बच जायगा। यदि वे इतनी सम-झदारी भी न खर्च कर सकते हों तो भी उनको इतना अवश्य समझना चाहिए कि अन्य जातियों को भी हमारे आक्रमणों से अपनी रक्षा करने का पूरा अधिकार है। यदि वे कम से कम इतना भी समझ जायँगी, तो भी भावी युद्धों की भीषणता तथा संसार के संकट बहुत कुछ कम हो जायँगे। और यदि वे इतना भी न

समझें तो संसार के अन्य वर्णों को विवश होकर उनको शिक्षा देनी पड़ेगी, उनकी आँखों में तेज़ अंजन लगाना पड़ेगा, और उनसे उनके पापों का प्रायश्चित कराना पड़ेगा। अब गोरों को अधिकार है कि वे इनमें से जो मार्ग उचित समझें, उसे ग्रहण करें।

यूरोपीय युद्ध के सहसा समाप्त हो जाने से जापानियों के मन्सूबे मिट्टी में मिल गये थे। लेकिन इतना होने पर भी सन्धि के समय वार्सेल्स की कान्फ्रेंस में उसके कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधियों ने अपने देश के लिए बहुत बड़ा काम किया। युद्ध काल में जापान ने जितने स्थानों पर अधिकार प्राप्त किया था, उनमें से अधिकांश को उन्होंने अपने हाथ से निकलने न दिया। चीन में जापान ने जो प्रदेश प्राप्त किये थे, चीन के लाख विरोध करने पर भी वे जापान के हाथ में ही रह गये और सन्धि में इस बात का उल्लेख भी हो गया। साथ ही यह बात भी मान ली गई कि चीन के मामलों में जापान को औरों की अपेक्षा विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं। इसका कारण यह था कि मित्र-राष्ट्रों और जापान में चीन के सम्बन्ध में पहले से ही गुप्त समझौता हो चुका था। उस अवसर पर जापान ने एक और काम किया था, जो अन्य वर्णों के लोगों की दृष्टि से बहुत अच्छा था। उसने अन्य वर्णों के लोगों के नेता और सहायक का काम करते हुए यह निश्चय करा लिया था कि अन्य वर्णों के जो लोग दूसरे देशों में जा कर बसना चाहेंगे, उनको भी गोरों के समान ही अधिकार प्राप्त होंगे; और इस बात का उल्लेख उसने सन्धि में भी करा लिया था। यद्यपि अभी इस सिद्धान्त के कार्य-रूप में परिणत होने के कोई विशेष लक्षण नहीं दिखाई देते,

तथापि यही कुछ कम नहीं है कि यह सिद्धांत मान तो लिया गया और इतनी बड़ी सन्धि में उसका उल्लेख तो हो गया। स्वयं जापानी प्रतिनिधियों को ही इस बात की आशा नहीं थी कि इस सिद्धांत का पूरा पूरा पालन होगा और न वे स्वयं ही उस सिद्धांत का पूरा पूरा पालन करना चाहते थे; क्योंकि उन्होंने स्वयं अपने ही देश में ऐसे कठोर नियम बना रखे थे जिनके अनुसार विदेशियों को जापान में जा कर बसने और वहाँ जमीनें आदि प्राप्त करने में बहुत कठिनता होती है। लेकिन इतना होने पर भी उस समय जापानी प्रतिनिधि एक बहुत अच्छी राजनीतिक चाल चले थे जिससे आगे चलकर उनका भी तथा अन्य वर्णों के लोगों का भी बहुत कुछ लाभ हो सकता था। और इससे जापान का प्रत्यक्ष लाभ तो यह था कि सारे संसार ने यह बात देख ली कि गोरों के मुक़ाबले में जापान ने अन्य वर्णों के लोगों का नेतृत्व ग्रहण कर लिया है। उसके लिए यही क्या कम था!

इधर पचीस वर्षों में जापान ने पूर्वी एशिया में अपना यथेष्ट प्रसार कर लिया है और अपना बल भी खूब बढ़ा लिया है। एशिया के पूर्व में कामस्चाटका से फिलिपाइन्स तक जितने टापू पड़ते हैं, प्रायः उन सब पर जापान का अधिकार हो गया है। गत महायुद्ध में उसने जरमनी के जिन टापुओं पर अधिकार प्राप्त किया है, उनके कारण प्रशान्त महासागर में उसका नौ-सैनिक बल और भी बढ़ गया है और उसके हाथ में ऐसे स्थान आ गये हैं जिनका जल-युद्ध के समय बहुत अच्छा उपयोग हो सकता है। एशिया के पूर्वी तट पर उसके अधिकार में जो स्थान हैं, वे भी बड़े महत्वपूर्ण हैं। कोरिया और शाण्टुङ्ग पर अधिकार प्राप्त करके वह

मानों चीन का मालिक बन बैठा है। अब वह जब चाहे, तब चीन पर चढ़ाई करके उसे अपने आज्ञानुसार चला सकता है। दक्षिणी चीन में उसे फूकिन्स्का प्रान्त भी मिल गया है, जो उसके फारमोसा टापू के सामने पड़ता है। और सब से बढ़कर बात यह है कि सारे चीन में उसे खानों और रेलों आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं जिनके कारण सारे चीन में जापानियों का एक जाल सा बिछ गया है।

चाहे चीन पर जापान का प्रभुत्व सदा बना रहे और चाहे आज ही दोनों में समानता तथा मित्रता का सम्बन्ध स्थापित हो जाय, पर एक बात पूर्ण रूप से निश्चित है। वह यह कि अब पूर्वी एशिया में गोरों का प्रसार असम्भव हो गया है। अब यदि गोरे फिर पूर्वी एशिया में अपना प्रसार करना चाहेंगे तो उसका परिणाम यही होगा कि जापान के साम्राज्यवादी और चीन के राष्ट्रीय दल वाले मिलकर एक हो जायेंगे और पूर्वी एशिया में गोरों के अधिकार में जो थोड़े बहुत स्थान बच गये हैं, उन स्थानों से भी गोरे निकाल दिये जायँगे।

जब जापान और चीन में आबादी इतनी अधिक हो जायगी कि फिर इन देशों में वहाँ के निवासियों के रहने के लिए स्थान न रह जायगा और जब इन देशों के निवासियों को अपने बल का ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा, तब वे दोनों आपस में बहुत अच्छा समझौता कर लेंगे, और इस समझौते के बाद ही गोरों को पूर्वी एशिया से हाथ धोना पड़ेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इन दोनों देशों की आबादी दिन पर दिन बढ़ती जाती है और इस वृद्धि का पूर्वी एशिया के भविष्य पर [illegible] प्रभाव पड़ेगा।

इसलिए इस बात का कुछ विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है कि यह बढ़ती हुई आबादी अपने देश में कहाँ तक खप सकेगी और दूसरे किन किन देशों में उसका सहज में निकास और निर्वाह हो सकेगा, क्योंकि आगे चलकर वर्ण सम्बन्धी जो झगड़ा होगा, उसकी भीषणता आदि पर इस निकास और निर्वाह का बहुत प्रभाव पड़ेगा।

पहले जापान को ही लीजिये। इस समय वहाँ की आबादी लगभग ६,००,००,०००, है और उसमें प्रति वर्ष प्रायः ८,००,००० की वृद्धि होती है। यद्यपि चीन की आबादी का कोई ठीक ठीक लेखा इस समय प्राप्त नहीं है, तथापि वहाँ की ४०,००,००,००० आबादी में जापान की जन-संख्या की वृद्धि के हिसाब से प्रति वर्ष ६०,००,००० की वृद्धि होनी चाहिए। कृषि के विचार से इन दोनों देशों में जहाँ तक आबादी हो सकती है, वहाँ तक तो आबादी हो ही चुकी है। अब यदि वहाँ की बढ़ती हुई आबादी को भी अपने देश में ही रहना और निर्वाह करना पड़े तो कुछ अंशों में यह भी सम्भव है, जब कि वहाँ आधुनिक प्रणालियों और मशीनों आदि की सहायता से खेती-बारी की जाय। दोनों ही देशों में इस समय थोड़ी बहुत ऐसी जमीन है जो आबाद हो सकती है। जापान के उत्तरी टापू होकैडो में इस समय बहुत जमीन खाली पड़ी है जो आबाद की जा सकती है। इसके अतिरिक्त और टापुओं में भी थोड़ी बहुत जमीन मिल सकती है। हाँ, कोरिया और मंचूरिया में बहुत अधिक ऐसी जमीन है जो आबाद हो सकती है। पर वहाँ कोरियनों और चीनियों में जो प्रतियोगिता चलती है, उसके कारण जापानियों का उपनिवेश सहज में स्था-

पित नहीं हो सकता । चीन साम्राज्य में ऐसी जमीन बहुत अधिक है जो बसाई जा सकती है । मंगोलिया और चीनी तुर्किस्तान में यदि रेलें और सड़कें आदि बन जायँ तो वहाँ बहुत सी जमीन निकल सकती है जिससे लाखों करोड़ों चीनियों का निर्वाह हो सकता है । मंचूरिया में चीनियों की आबादी बढ़ भी रही है; और जापान चाहे कितनी ही बाधाएँ क्यों न खड़ी करे, पर अभी वहाँ चीनियों की आबादी बढ़ती ही जायगी । तिब्बत की अधित्यका में यद्यपि बहुत अधिक जाड़ा पड़ता है, तथापि वहाँ भी कुछ लोगों का निर्वाह हो ही सकता है ।

तथापि चीन या जापान में इतनी ज्यादा गुंजाइश नहीं है कि वहाँ की दिन पर दिन बढ़ती हुई आबादी वहीं खप सके । दस-बीस वर्ष के लिए तो कोई हर्ज नहीं है, पर हाँ दो चार पीढ़ियों के बाद वहाँ जमीन का भीषण अकाल हो जायगा । उस दशा में चीनियों और जापानियों को विवश होकर पूर्वी एशिया के उन भागों में प्रवेश करने का उद्योग करना पड़ेगा जो इस समय गोरों के शासन में हैं और जिनमें प्रायः पीत वर्ण के लोग बसते हैं । अथवा उन देशों में घुसना पड़ेगा जिनमें गोरों का शासन भी है और गोरों की ही आबादी भी । जिन देशों में इस समय गोरों का केवल शासन है और जिनमें गोरों की नहीं बल्कि अन्य वर्णों के लोगों की आबादी है, उन देशों में तो सम्भव है कि गोरी जातियाँ पीत वर्ण वालों की आबादी का उतना अधिक विरोध न करें, पर जिन देशों में गोरों का ही शासन और गोरों की ही आबादी है, उन देशों में यदि पीत वर्ण वाले प्रवेश करना चाहेंगे तो गोरे स्वभावतः उनका विरोध करेंगे और उस दशा में दोनों में युद्ध होगा ।

पहले उन देशों को लीजिए जिनमें शासन तो गोरों का और आबादी अन्य वर्णों की है। चीन और आस्ट्रेलिया के बीच में जितने प्रायद्वीप और द्वीपपुंज हैं, उनमें पीत वर्ण वाले और विशेषतः चीनी बहुत अच्छी तरह जा कर बस सकते हैं। वास्तव में वे सब देश अन्य वर्णों के ही निवास-स्थान हैं और उनमें से केवल स्याम को छोड़कर शेष सब देश राजनीतिक दृष्टि से गोरों के ही अधिकार में हैं। उन विशाल देशों के स्वामी ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, हालैण्ड और अमेरिका के संयुक्त राज्य हैं। उन देशों के निवासी बहुत दिनों से गुलामी में रहने के कारण, भारतवासियों की भांति, प्रायः अयोग्य और निर्बल हो गये हैं। हम यह मानते हैं कि उनमें कुछ जंगली भी हैं, पर जो कुछ कुछ सभ्य भी है, वे भी सब प्रकार से अशक्त ही कर दिये गये हैं। इस दशा में उनसे यह आशा नहीं की जा सकती कि जिस समय चीनी उनके देशों में जाकर बसने लगेंगे, उस समय वे किसी प्रकार उनका विरोध कर सकेंगे और उनके मुक़ाबले में ठहर सकेंगे। ब्रिटिश स्ट्रेटस सेटिलमेण्टस, उत्तर बोर्नियो, फ्रेन्च इण्डोचाइना डच इण्डीज, अमेरिकन फिलिपाइन्स, अथवा स्वतंत्र स्याम में ही जहाँ तक हो सका है, चीनियों ने पहुँच कर वहाँ के निवासियों की अपेक्षा अपने आपको श्रेष्ठ सिद्ध कर दिया है। वे वहाँ जाकर बस गये हैं और वहाँ के निवासियों की अपेक्षा अच्छी तरह रहते हैं। स्ट्रेटस सेटिल्मेण्टस में चीनियों को यथेष्ट स्वतंत्रता प्राप्त है, इसलिए वहाँ के मूल निवासी तो मानों चीनियों के मुक़ाबले में बिलकुल नष्ट ही होते जा रहे हैं। वहाँ के मूल निवासी घटते जाते हैं और चीनी बढ़ते जाते हैं। इन देशों में चीनियों का

प्रसार रोकने के लिए यदि कोई बन्धन है तो वह प्रायः कानूनी बन्धन ही है जो बनावटी है और आवश्यकता पड़ने पर सहज में तोड़ा जा सकता है। बहुत से विचारवान तो अभी से यह कहने लगे हैं कि इन प्रदेशों के मूल निवासी बिलकुल नष्ट हो जायँगे और वहां चीनियों की पूरी बस्ती बस जायगी। एलेन आयर्लैंगड नामक एक विद्वान का मत है—"यह अनुमान करने के यथेष्ट कारण हैं कि पूर्वी और दक्षिण एशिया में कर्क रेखा और मकर रेखा के बीच में, भारतवर्ष को छोड़कर और जितने प्रदेश हैं, उन सब में चीनी यदि अपनी वर्तमान गति से ही बढ़ते गए, तो धीरे धीरे वे उन सब प्रदेशों के मूल निवासियों को हजम कर जायेंगे और उनका स्थान स्वयं ग्रहण कर लेंगे"। सम्भव है कि यह बात ठीक हो; और ऐसी दशा में यह कहा जा सकता है कि चीनियों के प्रसार के लिए पूर्वी एशिया में यथेष्ट स्थान है। पर यहां इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चीनियों का यह प्रसार तभी हो सकता है जब और देशों के निवासियों का चीनियों के प्रसार के लिए नष्ट हो जाना अभीष्ट मान लिया जाय। पर प्रश्न तो यह है कि क्या गोरों के पास बहुत सी भूमि बिलकुल खाली पड़ी रहे, और चीनियों के प्रसार के लिए अन्य देशों के निवासियों का सहज में नाश हो जाय? क्या वर्तमान सभ्य संसार ऐसी परिस्थिति चुपचाप देखने के लिए तैयार है? और फिर यह कौन कह सकता है कि जिस समय उन देशों के निवासियों का चीनियों के प्रसार के कारण नाश होने लगेगा, उस समय वे भी चैतन्य न हो जायेंगे, और उन चीनियों के प्रसार का भी उसी प्रकार विरोध न करने लगेंगे जिस प्रकार इस समय संसार के अन्य वर्णों के

लोग गोरों के प्रसार का विरोध कर रहे हैं ? कहा जाता है कि इस समय डच इण्डीज में केवल ८०,००,००० आदमी बसते हैं; जो प्रायः जंगली हैं। और वहाँ सहज में १०,००,००,००० आदमी बस सकते हैं; इसलिए यदि चीनी चाहें तो वहाँ जाकर अच्छी तरह निर्वाह कर सकते हैं, पर ऐसी बात क्यों कही जाती है ? डच इण्डीज के मूल निवासियों के प्रदेश का मार्ग चीनियों को क्यों दिखलाया जाता है ? इसी लिए न कि जिन अन्य बड़े बड़े खाली प्रदेशों को यूरोपियनों ने अपने लिए अलग रख छोड़ा है, उनमें वे पैर पसार कर सोएँ और चीनियों के द्वारा डच इण्डीज के निवासियों के नाश का तमाशा मजे में देखा करें ?

खैर, हम थोड़ी देर के लिए यह भी मान लेते हैं कि गोरे प्रभुओं को तंग करना ठीक नहीं है और यदि चीनियों का निर्वाह अपने देश में न होता हो, तो उन्हें उचित है कि वे अपने आस पास के उन प्रदेशों में जा बसें, जिनमें गोरों का केवल शासन है और जहाँ अन्य वर्णों के लोग बसते हैं। पर जापान की बढ़ती हुई प्रजा क्या करे ? चीनी लोग जैसी ऋतुओं और परिस्थितियों में अपना निर्वाह कर सकते हैं, वैसी ऋतुओं और परिस्थितियों में जापानियों का निर्वाह नहीं हो सकता। गोरों की तरह जापानी भी गरम देशों में सदा के लिए नहीं बस सकते, और न वे गोरों की तरह बहुत अधिक ठंढे प्रदेशों में ही रह सकते हैं। फारमोसा यद्यपि बहुत अधिक गरम देश नहीं है, तथापि जापानियों को वहाँ रहने में बहुत कष्ट होता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि जापान के उत्तरी टापू होकैड़ो में बहुत सी जमीन खाली पड़ी है। पर जापानी लोग अपने उस टा को भी इसी लिए आबाद नहीं

कर सकने कि वहाँ जाड़ा बहुत पड़ता है। ऐसी दशा में यह स्वतः सिद्ध है कि अभी हमने एशिया के जो गरम देश चीनियों के बसने योग्य बतलाये हैं, वे जापानियों के किसी काम के नहीं हैं। जापानी उन प्रदेशों का अधिक से अधिक वही उपयोग कर सकते हैं जो इस समय गोरे कर रहे हैं। अर्थात् वे वहाँ जाकर प्राकृतिक सम्पत्ति आदि से लाभ उठा सकते हैं, जो सम्पत्ति वास्तव में उन देशों के मूल निवासियों की होनी चाहिए, उस पर बलपूर्वक वे अपना अधिकार कर सकते हैं—उसका अपहरण कर सकते हैं। जापान की बढ़ती हुई प्रजा वहाँ किसी प्रकार बस नहीं सकती। यदि जापानी वहाँ जाकर केवल व्यापार आदि भी करने लगें तो भी एक झगड़ा खड़ा हो जायगा। वह यह कि चीनी तो वहाँ जाकर बसते ही रहेंगे; इस दशा में जापानियों को उनके साथ भीषण प्रतियोगिता करनी पड़ेगी; क्योंकि चीनी लोग जिस प्रकार जापानियों की अपेक्षा बस्ती बसा कर रहने में तेज हैं, उसी प्रकार वे जापानियों की अपेक्षा व्यापार करने में भी तेज हैं। चाहे इस समय जापान ने पूर्वी साइबेरिया में अपनी सेना भले ही रख छोड़ी हो, पर फिर भी उसकी बढ़ती हुए जन-संख्या का वहाँ किसी प्रकार निर्वाह नहीं हो सकता। हाँ, चीनी वहाँ भी मजे में रह सकते हैं। यदि आज थोड़े से चीनी वहाँ जा कर बस जावें तो थोड़े ही दिनों में वहाँ उनकी बहुत बड़ी बस्ती तैयार हो सकती है। पर जो जापानी होक्कैडो का जाड़ा भी नहीं सह सकते, वे साइबेरिया के जाड़े में क्योंकर अपना निर्वाह कर सकेंगे?

इस प्रकार जापानी न तो एशिया के उत्तर के बर्फ़ीले मैदानों

में ही वस सकते हैं और न उसके दक्षिण के कम बसे हुए प्रदेशों में ही। यदि उनका निर्वाह हो सकता है तो उत्तर अमेरिका और आस्ट्रेलिया में ही। पर उन सब स्थानों पर गोरों ने पूरा पूरा अधिकार जमा रखा है और वहाँ वे अन्य वर्णों के लोगों को घुसने ही नहीं देते। यदि जापानियों को अंत में विवश होकर वहाँ जाना ही पड़ा, तो भीषण युद्ध निश्चित और अनिवार्य है। उस दशा में सारे संसार की शांति का भंग हो जायगा। जापानियों में देश-प्रेम पराकाष्टा का है, वे अपने देश को सारे देशों का नेता बनाना चाहते हैं और सब प्रकार से अपना प्रसार करना चाहते हैं। वे अपने पड़ौस में विकराल चीन को देखते हैं जिसकी वृद्धि बहुत ही भीषण रूप से हो रही है। वे अच्छी तरह समझते हैं कि यदि हम अपने निवास-स्थान और राजनीतिक अधिकार का विस्तार न करेंगे, तो हमारा नाश अवश्यम्भावी है। यदि जापान को सचमुच जीवित रहना और उन्नति करना है, तो उसे नये प्रदेशों पर भी अवश्य ही अधिकार करना पड़ेगा। उसकी आक्रमणकारी पर-राष्ट्र-नीति उसकी भीषण साम्राज्य-लिप्सा का, उसके विजय स्वप्नों का ही रहस्य है।

जापानी बहुत दिनों से यह चाहते हैं कि हम अपनी तलवार के ज़ोर से एक विशाल साम्राज्य स्थापित करें। १९०९ में एक जापानी ने Mastery of the Paicific प्रशांत महासागर का प्रभुत्व नामक एक ग्रन्थ लिखा था। उस पर एक स्थान पर कहा गया था—"जब कभी युद्ध होगा, तब जापान मानों ऐन्द्रजालिक बल से अपने बेड़ों की सहायता से प्रशान्त महासागर पार कर जायगा। उन बेड़ों में ऐसे ऐसे आदमी रहेंगे जिन्होंने नेल्सन को

अपना आदर्श मान रक्खा है और उनके बेड़ों को प्रशान्त महासागर में वैसी ही विजय प्राप्त होगी, जैसी नेल्सन को ट्रैफलगार में हुई थी। चाहे जापान यह बात मुँह से कहे और चाहे न कहे, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसका मुख्य उद्देश्य प्रशान्त महासागर पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही है। चाहे इस समय सारे संसार में कितनी ही शान्ति क्यों न हो, पर फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि सब राष्ट्रों में कब भीषण युद्ध छिड़ जायगा। जापान को विजय प्राप्त करने के लिए अंगरेजों की सहायता की आवश्यकता नहीं है। जापान और ग्रेट ब्रिटेन की मित्रता जब चाहे तब टूट जाय। उससे जापान कभी परास्त नहीं होगा। जापान अपने जहाजों के भरोसे नहीं बल्कि अपने आदमियों के भरोसे विजय प्राप्त करेगा।"

गत महायुद्ध के कारण तो जापानियों के ये भाव और भी बढ़ गये हैं। अब वे समझते हैं कि हम तो पहले की अपेक्षा बलवान हो गये हैं और गोरे अपना बहुत-सा बल गँवा चुके हैं। अब उनको आशा हो गई है कि अवसर पड़ने पर हम गोरों की दुर्बलता और विपत्ति से यथेष्ट लाभ उठा सकेंगे। १९१९ में काउण्ट ओकुमा के 'होची' नामक पत्र में प्रकाशित हुआ था—"एक वह समय था जब कि जापानियों को अपनी उन्नति करने के लिए अंगरेजों और अमेरिकनों की मित्रता तथा सहायता की आवश्यकता थी। पर अब वे दिन गये। अब हमें पूर्व की ओर नहीं बल्कि पश्चिम की ओर के लोगों से मित्रता करनी चाहिए। अब रूस के बोल्शेविकों का साथ देना चाहिए, और हमें [illegible] का शासन स्थापित हो [illegible]

अधिक शान्त दल का शासन स्थापित हो जायगा तो वहां जापान को एक बहुत अच्छा मित्र मिल जायगा। हम लोग पश्चिम में बाल्कन, जरमनी, फ्रान्स और इटली की ओर बढ़कर संसार के बहुत बड़े अंश को अपने अधिकार में ला सकते हैं। शान्ति महासभा में एंग्लो सेक्सनों ने जो जो अत्याचार किये हैं, उनके कारण उनसे देवता भी रुष्ट हो गये हैं और मनुष्य भी। कुछ लोग अपने छोटे मोटे स्वार्थों के कारण इस समय उनका साथ दे रहे हैं। पर अन्तिम निर्णय उसी प्रकार होगा जिस प्रकार हमने अभी बतलाया है।"

नीचे दिये हुए एक लेख से भी, जो १९१६ में लिखा गया था, यह पता चल सकता है कि जापानियों की साम्राज्य-लिप्सा कहाँ तक बढ़ी हुई है—

"हमारी जाति की जन-संख्या ५,००,००,००० है, और इतनी ही जन-संख्या से हम सारे संसार को जीतना और अपने वश में रखना चाहते । अवश्य ही यह एक बड़ी विलक्षण बात है। पहले तो हमारे पास चीन है। हम चीन से होते हुए और उसे अपने साथ मिलाते हुए आगे बढ़ेंगे। रूस ने लेटियम से होते हुए इटली पर और इटली से होते हुए भूमध्य सागर पर विजय प्राप्त की थी। नेपोलियन ने भी इटली पर से होते हुए जरमनी पर और जरमनी पर से होते हुए सारे यूरोप पर विजय प्राप्त की थी। इंग्लैण्ड भी आज कल अपने उपनिवेशों की सहायता से, जिन्हें वह अपने मतलब के लिए अपना मित्र और साथी बतलाता है, जरमनी पर विजय प्राप्त करना चाहता है। इसी प्रकार हम भी चीन पर विजय प्राप्त करके उसे अपना लेंगे

और तब उसे अपने आप में मिलाकर हम ५,००,००,००० से ५०,००,००,००० हो जायँगे, और हमारे पास के करोड़ों रुपये अरबों तक जा पहुंचेंगे।"

"हमारे भाइयों ने अबतक कैसे अच्छे अच्छे काम किये हैं! हमारे राजनीतिज्ञ उनको कैसे अच्छे मार्ग पर ले गये हैं! आज तक हम लोगों ने कोई भूल तो की ही नहीं। और अब आगे भी हम से कोई भूल न होनी चाहिए। १८९५ में हमने चीन पर विजय प्राप्त की थी। पर उस समय हमने लूट में जो माल पाया था, वह रूस, जरमनी और फ्रांस ने हम से छीन लिया। तब से आज तक हमारा बल कितना बढ़ा है! और अब भी वह बराबर बढ़ता ही जाता है। दस ही बरस के अन्दर हमने रूस से बदला चुका लिया, उसको यथेष्ट दण्ड दिया और उससे अपना माल वापस छीन लिया। बीस बरस में हमने जरमनी से बदला चुका कर अपना माल वापस ले लिया। फ्रांस से बदला चुकाने की अभी कोई जल्दी है ही नहीं उसने अभी तक [illegible] समझती है कि जब उसके देश में शत्रु घुस आवे, तब हमने उसकी रक्षा के लिए अपने सैनिक क्यों नहीं भेजे! यदि हम अपने सैनिक फ्रान्स भेज देते तो अवश्य ही तुरन्त जरमनों को वहां से निकाल देते। पर फ्रान्स को शिक्षा देने के लिए हमने ऐसा नहीं किया। एशिया में उसके जो उपनिवेश आदि हैं, उनकी रक्षा वह [illegible] है। पर फिर भी वह समझता है कि अन्त में उसके उपनिवेश हमारे ही हाथ में आ जायँगे। पर उनके छिनने के लिए जल्दी की कोई आवश्यकता नहीं है। [illegible] सकते हैं, और शान्तिपूर्वक विजय प्राप्त करते जायँगे।"

"सवारी के लिए हमें चीन बहुत बढ़िया घोड़ा मिल गया है। पर यह घोड़ा बहुत दिनों से जंगल में घूमता रहा है और कुछ कमजोर हो गया है। उसे कुछ खरहरे, दाने, घास और सधाने की जरूरत है। दूसरी बात यह है कि अभी काठी आदि भी उसपर अच्छी तरह नहीं रखी गई है। क्या यह घोड़ा और यह काठी युद्ध की कठिनाइयों में ठीक ठीक काम दे सकेंगे ? और फिर युद्ध की वे कठिनाइयां कैसी और कितनी होंगी ?"

"उस मोटे ताजे बेवकूफ अमेरिका के पास धन तो बहुत है और वह भावुक भी बहुत है। पर उसमें न तो संगठन है और न शासन करने की योग्यता यदि वह अकेला हमारे मुकाबले पर आवे, तो हमें अपने चीनी घोड़े की भी जरूरत नहीं है। हमें अकेले ही उससे निपट लेंगे। अभी हाल में हमारे एक मित्रने अमेरिका वालों के सम्बन्ध में बहुत ठीक कहा था कि वे ऐसे चोर हैं जिनका हृदय खरगोशों का सा है। किसी योद्धा जाति के लिए अमेरिका कोई शत्रु नहीं है, बल्कि ऐसा पका हुआ तरबूज है जो काटकर खाने के लिए बिलकुल तैयार है। पर हाँ, इंग्लैण्ड और जरमनी आदि दूसरे योद्धा राष्ट्र मौजूद हैं। क्या वे हमें अकेले ही ऐसे बढ़िया माल पर हाथ साफ करने देंगे ?"

"लेकिन चीन को अपना घोड़ा बनाकर क्या हमें पहले स्थल की ओर बढ़ना चाहिए ? क्या हमें भारत पर आक्रमण करना चाहिए ? अथवा प्रशान्त महासागर को अपने हाथ में लेना चाहिए, जिसे प्राप्त करने का हमें उतना ही अधिकार है जितना इंगलैण्ड को एटलान्टिक अपने हाथ में रखने का है! हमारे लिए भारत आकर्षक और सहज तो है, पर उसमें खतरा भी है। यदि

हम वहीं से आरम्भ करेंगे तो गोरी जातियाँ तुरन्त सचेत हो जायँगी और सब मिल कर हमें सदा के लिए उन्हीं पुरानी अलग सीमाओं में बन्द कर देंगी। इसलिए हमें पहले समुद्र की ओर ही बढ़ना चाहिए। पर समुद्र की ओर बढ़ने का मतलब पश्चिमी अमेरिका तथा उसके मार्ग में पड़ने वाले टापुओं की ओर बढ़ना है। और उसके साथ ही आस्ट्रेलिया और भारत का भी सफाया हो जायगा। और तब फिर बाकी संसार के लिए, खासकर उत्तर अमेरिका के लिए, लड़ना रह जायगा। और जब एक बार उत्तर अमेरिका हमारे हाथ में आ जायगा, तब फिर सब कुछ हमारे हाथ में आ जायगा। उस समय हमारे हाथ में ऐसा राष्ट्र हो जायगा जो सब प्रकार से हमारे सरीखे राष्ट्र के लिए उपयुक्त होगा।"

"केवल उत्तर अमेरिका में ही करोड़ों आदमी रह सकेंगे और वे करोड़ों आदमी जापानी और उनके गुलाम होंगे। न तो सड़ता हुआ एशिया, न पुराना यूरोप जो अपनी विचित्र और पुरानी परम्पराओं तथा रिवाजों के कारण इतिहास आदि के विचार से सुरक्षित रहना चाहिए—और न गरम आफ्रिका ही इन लोगों के लिए उपयुक्त है। आह! वह हरा-भरा बढ़िया उत्तर अमेरिका हमारे ही द्वारा आविष्कृत होता और हम ही उसके मालिक होते! पर खैर, अगर ऐसा नहीं हुआ तो अब हम उससे भी बढ़िया उपाय करेंगे, उस पर विजय प्राप्त करके उसे अपने अधिकार में लावेंगे।"

इसके उपरान्त इस जापानी साम्राज्यवादी ने इस बात पर विचार किया है कि यह कार्य-क्रम किस प्रकार पूरा किया जा सकता है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह लेख

जिस समय लिखा गया था, उस समय अमेरिका वाले बड़े ही शान्तिप्रिय थे और वह देश किसी से लड़ने भिड़ने के लिए जरा भी तैयार न था। यह ठीक है कि सभी जापानी ऐसे शेखचिल्ली साम्राज्यवादी नहीं हैं। पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वहाँ ऐसे ही विचार वालों का एक जबरदस्त दल वहाँ है और उससे गोरी जातियाँ मन ही मन भयभीत हो रही हैं।

धूसर वर्ण

(३)

धूसर वर्ण के लोग पश्चिमी तथा मध्य एशिया में बसते हैं। इनमें से कुछ तो दक्षिणी तथा पश्चिमी एशिया में हैं और कुछ उत्तर आफ्रिका में। धूसर और पीत वर्ण के लोगों की संख्या में कुछ विशेष अंतर नहीं है। यदि पीत वर्णवाले ५०,००,००,००० हैं तो धूसर वर्ण वाले ४५, ००, ००, ००० हैं। पर अधिकतर दूसरी बातों में इन दोनों वर्णों में बहुत अधिक अन्तर है। पहली बात तो यह है कि पीत वर्ण वाले एशिया के एक विशिष्ट भाग में ही रहते हैं, पर धूसर वर्णवाले बहुत दूर दूर तक फैले हुए हैं। उनके रहने के देशों का विस्तार अपेक्षाकृत बहुत अधिक है और उन देशों की प्राकृतिक अवस्थाओं में भी बहुत भेद है।

इस भौगोलिक भेद के कारण धूसर वर्ण के भिन्न भिन्न अंगों के इतिहास में भी बहुत अन्तर है और उनके स्वभाव तथा गुण आदि में भी। पीत वर्ण के लोग तो शुरू से सारे संसार से अलग रहते आये हैं। पर धूसर वर्ण के लोग दूर दूर तक फैले होने के कारण प्रायः विदेशियों के प्रभाव में पड़ते रहे हैं और उनमें समय समय पर अनेक प्रकार के विकास और परिवर्तन होते रहे हैं। बहुत

दिनों से यही होता रहा है कि धूसर वर्ण के इन भिन्न भिन्न देशों में या तो विदेशी आ कर बसते रहे हैं और या वे उनपर आक्रमण करके विजय प्राप्त करते और उनके देश में ही रहते आये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि या तो उनमें बहुत से विदेशी समा गये हैं, और या विदेशियों के आ मिलने के कारण उनमें कई प्रकार की वर्ण-संकरता उत्पन्न हो गई है। पीत वर्ण वालों में जो एक निज की विशेषता पाई जाती है, वह विशेषता धूसर वर्ण में नहीं है। बल्कि उसके कई अलग अलग भाग हो गये हैं, जो अनेक बातों में एक दूसरे से बिलकुल भिन्न हैं। इनमें से फारस और तुर्की के रहने वाले कुछ गोरे हो गये हैं और भारत वासी तथा यमन के अरब प्रायः धूसर वर्ण के ही रह गये हैं उधर हिमालय तथा मध्य एशिया में रहने वाले धूसर वर्ण के लोगों में पीत वर्णवालों का कुछ मिश्रण हो गया है। पीत और गौर वर्ण के लोगों की सभ्यता में एक निज की विशेषता अथवा विभिन्नता है, जो इन धूसर वर्ण वालों की सभ्यता में नही है। धूसर वर्ण के अधिकांश लोगों में यदि कोई एकता है तो वह धार्मिक एकता है, क्योंकि वे अधिकांश में मुसलमान हैं। पर धूसर वर्ण के लोगों का मुख्य निवास-स्थान यह भारत है जिसके अधिकांश निवासी हिन्दू हैं और जिसमें केवल एक पंचमांश ही मुसलमान रहते हैं।

परन्तु इतना होने पर भी इन धूसर वर्णवालों में एक बात की एकता है। चाहे उन लोगों में पारस्परिक झगड़े कितने ही क्यों न हों पर वे सब इतना अवश्य समझते हैं कि हम सब एशिया के निवासी हैं। उनमें यह भाव हजारों वर्षों से है और आज तक ज्यों का त्यों पाया जाता है। विशेषतः उस समय उनका

यह भाव और भी तीव्र रूप धारण कर लेता है जब उनको विदेशियों अर्थात् गोरी जाति के लोगों से काम पड़ता है। धूसर और गौर वर्ण के लोगों का विरोध बहुत दिनों से चला आता है। कभी धूसर वर्ण के लोग गोरों पर आक्रमण करके उनके स्वामी बन जाते हैं और कभी गोरे धूसर वर्ण वालों पर अधिकार कर लेते हैं। यह चक्र बहुत दिनों से बराबर चला ही चलता है। इधर चार सौ वर्षों से गोरी जातियों ने धूसर वर्ण वालों पर अधिकार जमा रक्खा है। विशेषतः इधर सौ वर्षों से तो गोरों ने धूसर वर्णवालों पर अभूतपूर्व रूप से आक्रमण आरम्भ कर दिया है, और धूसर वर्णवालों का सारा समय बड़ी कठिनता से अपना बचाव करने में ही बीतता है।

यहाँ पीत वर्ण और धूसर वर्ण के लोगों में एक और अन्तर है। वह अन्तर यह है कि पीत वर्ण वालों ने तो पहले पहल गत शताब्दि के मध्य में ही गोरों के फलदायक आक्रमण का अनुभव किया था, और इस समय तक भी उन्होंने अपनी पूरी राजनैतिक स्वतंत्रता नहीं खो दी थी, और जब उन्होंने इन गोरों के सामने रहकर अपनी राजनैतिक स्वतंत्रता खो दी, तब शीघ्र ही उन्हें अपनी परतंत्रता का ज्ञान हो आया और उन्होंने पुनः स्वतंत्र होने के लिए उद्योग आरम्भ कर दिया। इस समय तक उन्होंने बहुत से अंशों में अपनी खोई हुई स्वतंत्रता फिर से पा भी ली है। पर धूसर वर्णवालों पर गोरों का आक्रमण बहुत पहले से आरम्भ हो गया था; क्योंकि वे उनके निवासस्थान के समीप ही रहते थे और इनके देशों पर अनेक अंशों में गोरों का अधिकार भी हो गया था। यद्यपि आज तक धूसर वर्ण वालों के कुछ देशों की थोड़ी बहुत स्वतंत्रता बची हुई है,

पर इसका कारण यह नहीं है कि वे देश स्वयं ही बलवान् हैं, बल्कि इसका कारण यह है कि उनके सम्बन्ध में गोरों में ही परस्पर प्रतियोगिता चल रही है। तो भी गोरों ने धीरे धीरे करके धूसर वर्ण के अधिकांश देशों पर अपना अधिकार जमा ही लिया है। १९१४ में जिस समय महायुद्ध आरम्भ हुआ था, उस समय तुर्की, फारस और अफगानिस्तान यही तीन ऐसे देश बच गये थे जो थोड़े बहुत स्वतंत्र थे। पर इस महायुद्ध ने उनकी वह थोड़ी बहुत बची खुची स्वतंत्रता भी नष्ट कर दी। अब चाहे नक्शों में जो कुछ दिखलाया जाय, पर इसमें सन्देह नहीं कि तुर्की और फारस की सारी स्वतंत्रता नष्ट हो चुकी है और अफगानिस्तान भी पहले की अपेक्षा गोरों का कुछ अधिक प्रभुत्व स्वीकृत करने के लिए ही विवश किया गया है। इस प्रकार गोरों ने धूसर वर्ण के सभी लोगों पर अपना राजनीतिक अधिकार जमा लिया है।

पर यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो राजनीतिक अधिकार कोई चीज़ नहीं है; क्योंकि वह कभी स्थायी नहीं होता। आज गोरे धूसर वर्ण वालों के मालिक हैं, कल धूसर वर्ण वाले गोरों पर अधिकार कर सकते हैं। जैसा कि उन्होंने पहले कई बार किया है। चाहे गोरे इस समय धूसर वर्ण वालों पर अधिकार करके अपने मन में फूले न समायँ, पर उनका यह अधिकार कभी स्थायी नहीं रह सकता। आज कल जिस प्रकार पीत वर्ण के लोग गोरों से असन्तुष्ट हैं उसी प्रकार धूसर वर्ण वाले भी उनसे बहुत नाराज़ हैं और हर तरह से उनका विरोध करने पर तुले हुए हैं। धूसर वर्ण वालों का यह विरोध प्रायः सौ वर्षों से आरम्भ है और यह विरोध बराबर बढ़ता जा रहा है। इस विरोध के बढ़ने के दो

मुख्य कारण हैं । एक तो यह कि धूसर वर्ण के लोग इतने दिनों से परतन्त्रता में रहते रहते उकता गये हैं और उनमें स्वतन्त्रता की लालसा दिन पर दिन बढ़ती जा रही है । और दूसरे यह कि उन पर गोरों का अन्याचार भी दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है । इनमें आरम्भ से प्रधान विरोधी मुसलमान रहे हैं । पर अब और लोग भी उस विरोध में सम्मिलित हो गये हैं । पर इस सम्बन्ध में कुछ विचार करने से पहले हम एक और बात का विचार कर लेना चाहते हैं ।

धूसर वर्ण के लोगों के निवास स्थान चार प्रधान देश हैं और देशों के अनुसार उनके चार प्रधान वर्ग भी हैं । वे चारों देश भारत, ईरान, अफगानिस्तान और तुर्किस्तान हैं । इनमें से भारतवर्ष धूसर वर्ण वालों का प्रधान देश है । सारे धूसर वर्ण के दो तिहाई अर्थात् ३०,००,००,००० से कुछ अधिक आदमी भारत में बसते हैं । ईरान या फारस छोटा सा देश है और उसमें ९,५०,००,००० आदमी रहते हैं । धूसर वर्ण के मुसलमानों पर उसका विशेष प्रभाव है । अरब और उसके आस पास के सिरिया मेसोपोटामिया, और उत्तर आफ्रिका का कुछ अंश मिला कर अरबिस्तान कहलाता है; क्योंकि इन प्रदेशों में या तो अरबी बोलने वाले और या अरबों के वंशज रहते हैं, जो प्रायः सब के सब मुसलमान हैं । इन अरबों की संख्या सब मिला कर ४,५०,००,००० है, जिनमें से तीन चौथाई उत्तर आफ्रिका में रहते हैं । तुर्किस्तानियों में वे सब लोग आ जाते हैं जो कुस्तुन्तुनिया से मध्य एशिया तक बसते हैं । इनमें खास टर्की, दक्षिण रूस तथा ट्रांस-काकेशिया प्रान्त और मध्य एशिया के तुर्कमान सभी आ जाते हैं ।

इन सब की संख्या २,५०,००,००० है। धूसर वर्ण के यही चार मुख्य वर्ग हैं। अब हम पहले मुसलमानों को ही लेते हैं। क्योंकि गोरों का मुख्य विरोध इन्हीं मुसलमानों से आरम्भ हुआ था और इस समय भी उस विरोध का बहुत कुछ दारोमदार इन्हीं मुसलमानों पर है।

मुसलमानों की युद्धप्रियता बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध है। किसी समय उनका बालचन्द्रवाला झण्डा चीन से फ्रांस तक फहराता था। पर धीरे धीरे मुसलमानों का प्रताप-सूर्य अस्त होने लगा और गत शताब्दि में तो वह मानों बिलकुल क्षितिज तक जा पहुँचा। आज से सौ सवा सौ वर्ष पहले ऐसा जान पड़ता था कि मानों मुसलमान जाति बिलकुल मरणोन्मुख हो रही है और उसमें कुछ भी दम बाकी नहीं रह गया है। लेकिन मुसलमानों के उस पतन काल में भी मुसलमानी धर्म के जन्म-स्थान अरब के रेगिस्तान में एक ऐसा महात्मा उत्पन्न हुआ जिसने मरती हुई मुसलमान जाति में नया जीवन संचार करने का उपक्रम आरम्भ किया। उस सुधारक का नाम अब्दुल वहाब था और उसके अनुयायी "वहाबी" कहलाते हैं। शीघ्र ही उसका सम्प्रदाय सारे मुसलमान संसार में फैल गया और उसमें नया जीवन आने लगा। उस सम्प्रदाय के लोग बराबर अपने भाइयों को उनके पुराने गौरव का स्मरण कराते रहते हैं और उनको फिर वही गौरव प्राप्त करने के लिए उत्तेजित करते रहते हैं। मुसलमानों के पुनरुत्थान का आरंभ अब्दुल वहाब से ही समझना चाहिए।

मुसलमानों का यह पुनरुत्थान, प्रायः सभी सच्चे और वास्तविक पुनरुत्थानों के समान, धार्मिक भी है और राजनीतिक भी।

आरंभ के वहाबियों को सब से अधिक यही बात खटकी थी कि राजनीतिक दृष्टि से मुसलमान दिन पर दिन निर्बल और गोरों के अधीन होते जाते हैं। यह भाव उन्नीसवीं शताब्दि के आरंभ में ही मुसलमानों में फैला था। पर साथ ही यह वही समय था, जब कि यूरोप नेपोलियन के युद्धों के आघात से सँभलने लगा था और पूर्व के मुसलमानों पर नये सिरे से अभूतपूर्व आक्रमण करने लगा था। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों में जातीयता तथा धार्मिकता के नये भाव उत्पन्न होने लग गये और वे राजनीतिक दृष्टि से स्वतंत्र तथा बलवान होने के लिए इस्लाम में एकता उत्पन्न करने के उद्योग में लग गये—अपने विचारों तथा आदर्शों को जागृत तथा उन्नत करने का आयोजन करने लगे।

उस समय यूरोप वालों का आर्थिक और सैनिक बल इतना बढ़ा चढ़ा था कि मुसलमानों को चटपट सफलता प्राप्त करने की कोई विशेष आशा नहीं थी। पर एशिया वालों में यह एक विशेष गुण होता है कि वे कठिन से कठिन काम देख कर भी घबराते नहीं हैं, और शांति तथा धैर्यपूर्वक निरंतर उद्योग करते चलते हैं। बस, यहाँ मुसलमान भी अपने लक्ष्य पर ध्यान रख कर निरंतर उद्योग करने लगे। पहले तो इनके काम का किसी को पता भी नहीं लगा। पर धीरे धीरे लोग इनके कामों से परिचित होने लगे और इनका उद्देश्य तथा अभिप्राय समझने लगे। आज से प्रायः पचास वर्ष पहले प्रसिद्ध विद्वान् पालग्रेवने इस्लाम के भविष्य के सम्बन्ध में एक निबन्ध लिखा था। इसमें एक स्थान पर इसने कहा—"इस्लाम इस समय भी बहुत बलवान है और यदि हम चाहें तो अब भी आक्रमण कर सकता है, और उसका यह

आक्रमण बहुत भीषण प्रमाणित हो सकता है। पश्चिमी ईसाइयों का बल और योग्यता देख कर पूर्वी मुसलमान जाग उठे हैं और इसकी जागृति का परिणाम यह होने लगा है कि अब वे गोरों से नाराज़ हो कर उनके साथ घृणा करने लगे हैं। बहुत से मुसलमान सारे यूरोप में भ्रमण कर चुके हैं और उसके विज्ञानों, विद्याओं तथा प्रणालियों आदि का ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे मुसलमान अपने जाति-भाइयों को जागृत करने के लिए बहुत ही तत्पर और प्रयत्नशील हो रहे हैं। मुसलमान यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि आधुनिक युरोपियनों की संस्थाएँ आदि स्थायी नहीं होतीं और उनमें प्रायः नये नये परिवर्तन होते रहते हैं। और अपने सम्बन्ध में वे समझते हैं कि हम एक बहुत ही मजबूत चट्टान पर दृढ़तापूर्वक खड़े हैं और तब वे अपनी उस दृढ़ता का मुकाबला दूसरों की चंचलता और अस्थिरता से करते हैं।

कुछ यूरोपियन विचारवान् और राजनीतिज्ञ समझते हैं कि मुसलमान जाति बिलकुल मुरदा हो गई है और अब उसके पुनरुज्जीवित होने की कोई आशा नहीं है। यही कारण है कि वे समय समय पर उसके साथ अनेक प्रकार के अत्याचार करते हैं, और उनके नाश के नये नये उपाय निकालते हैं। आज दिन तक इस बात के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि वे मुसलमानों को कुछ भी नहीं समझते और यथासाध्य उनका नाम मिटा देने का उद्योग करते हैं। तुर्की के सम्बन्ध में इधर हाल की जो घटनाएँ हुई हैं, वे भी इसी बात का प्रमाण हैं। पर यदि सच पूछिये तो मुसलमानों को मुरदा समझने वाले बड़ी भारी भूल करते हैं। उनको जानना चाहिए कि मुसलमान जाति मर नहीं गई है, बल्कि

दिन पर दिन उसमें नवीन जीवन का संचार हो रहा है और नये पाश्चात्य विचारों आदि को बहुत ही शीघ्रतापूर्वक ग्रहण कर रही है। अलीगढ़ के प्रसिद्ध ओरिएण्टल कालिज के भूतपूर्व प्रिन्सिपल मि० थियोडोर मारिसन का भी यही मत है कि मुसलमानों का बहुत सहज में सुधार हो सकता है। यह समझना बड़ी भारी भूल है कि वे अब किसी योग्य नहीं रह गये। प्रसिद्ध मि० मार्मेड्यूक पिकथाल का मत है कि इसलाम धर्म में कोई ऐसी बात नहीं है जो उसकी उन्नति में बाधक हो सके। यह ठीक है कि मुसलमानों ने अभी नव नवीन परिस्थितियों के अनुसार जीवन व्यतीत करना आरम्भ नहीं किया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि अब वे भी अपने यहाँ सुधार करने लग गये हैं और अपने आपको नवीन परिस्थितियों के अनुकूल बना रहे हैं।

बर्नर्ड टेम्पल ने १९१० में एक स्थान पर कहा था—"मुसलमान लोग संसार की राजनीतिक परिस्थिति को देखते हुए, आपस में मिल के इस बात का उद्योग करने लगे हैं कि हमें भी संसार में रहने के लिए स्थान और बल प्राप्त हो वे इसके लिए झगड़ना चाहते हैं। उनके इस झगड़े में चाहे रक्तपात न हो, पर फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि वह भारी और महत्व का झगड़ा होगा। उनको अपनी भावी उन्नति का बहुत अधिक ध्यान हो रहा है। प्रत्येक मुसलमान देश का दूसरे मुसलमान देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित हो रहा है। एक देश से दूसरे देशों के दल के दल, व्यापारी, यात्री और पत्र आदि बराबर आते जाते रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनके समाचार पत्र, और दूसरे साहित्य भी सब जगह पहुँचते रहते हैं जिससे उनका पारस्परिक सम्बन्ध

बराबर बढ़ता जाता है। मैंने काहिरा के समाचार पत्र बगदाद, तेह-रान और पेशावर में, कुस्तुन्तुनिया के समाचार पत्र बसरे और बम्बई में तथा कलकत्ते के समाचार पत्र करबला और सईद बन्दर में देखे हैं।"

इन यूरोपियनों ने मुसलमानों के सम्बन्ध में ये जो बातें कहीं हैं, प्रायः यही बातें स्वयं मुसलमान भी अपने सम्बन्ध में कहते हैं। सीरिया के अमीन रीहानी नामक एक ईसाई ने एक अवसर पर कहा था—"आधे मुसलमान ईसाइयों के शासन में हैं। पर वे अपनी पराधीनता की बेड़ियाँ तोड़ डालने के प्रयत्न में लगे हैं। वे अपनी शक्तियों का संगठन कर रहे हैं। उनका पुराना इतिहास बहुत ही गौरवपूर्ण है। उनका धर्म और भाषा जीवित है। उनकी धर्म पुस्तक उनमें नवीन जीवन का संचार करने वाली है। उनकी आशा कभी नष्ट नहीं हो सकती। चाहे यूरोपियन कूटनीति के कारण कुछ समय के लिए उनमें परस्पर विरोध और वैमनस्य उत्पन्न हो जाय और वे आपस में ही लड़ने लगें, पर वे सदा के लिए यूरोपियनों के शासन में नहीं रखे जा सकते। यूरोप की सीमाओं पर मुसलमान अपना जो कुछ गँवा रहे हैं, वही वे आधुनिक ढंग के प्रचार के द्वारा आफ्रिका तथा मध्य एशिया में प्राप्त कर रहे हैं। युरोप तो मुसलमानों को सिखा पढ़ा कर सैनिक बना रहा है, पर एक दिन यही सैनिक स्वयं यूरोप के विरुद्ध उठ खड़े होंगे।"

मुसलमानों का लिखा हुआ इसी प्रकार का और भी बहुत सा साहित्य भरा पड़ा है। मिस्र के यहिया सिदीक नामक एक विद्वान् ने १९०७ में एक पुस्तक लिख कर काहिरा में प्रकाशित

कराई थी जिसमें उसने यह बतलाया था कि चौदहवीं सदी हिजरी में मुसलमानों में कितनी जागृति हुई है और होगी। पुस्तक का महत्त्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि उसका लेखक यूरोप की उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुका है, फ्रान्स के एक विश्वविद्यालय से कानून की बड़ी उपाधि पा चुका है और मिस्र में जज के पद पर नियुक्त है। सिर्दीक ने १९०७ में ही समझ लिया था कि यूरोप वालों में परस्पर युद्ध हुए बिना न रहेगा। उसने लिखा था—"जरा यूरोप की इन बड़ी बड़ी शक्तियों को देखिए। ये भयंकर शस्त्र अस्त्र बना कर किस प्रकार अपना नाश कर रही हैं! एक दूसरी का बढ़ता हुआ बल वे किस बुरी तरह से देख रही हैं? सब एक दूसरी को भयभीत करती हैं, आपस में मित्रता कर कर के तोड़ती हैं। इन सब बातों से तो यही सिद्ध होता है कि वे ऐसा उत्पात खड़ा करेंगी जिससे सारे संसार में आग लग जायगी, खून की नदियाँ बहने लगेंगी, और दुनियाँ गारत हो जायगी। भविष्य ईश्वर के हाथ में है और जो कुछ वह चाहता है, वही होता है।"

सिर्दीक की समझ से उसी समय गोरों का पतन हो रहा था उसने लिखा था—"क्या इसका यही अर्थ है कि हमारा सुशिक्षित पाश्चात्य यूरोप अपने विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया है? क्या इससे यही समझा जाय कि इधर की तीन शताब्दियों तक बहुत अधिक परिश्रम करने के कारण वह बहुत थक गया है और अपनी जीवन-शक्ति बिलकुल खो चुका है? हम तो यही समझते हैं कि अब यूरोप बुड्ढा हो चला है और शीघ्र ही उसे रिक्त होकर अपना स्थान उन लोगों को दे देना पड़ेगा जो अध-

प्रांत में उससे कम है, जो अभी उसके समान दुर्बल नहीं हुए हैं। अर्थात् उसे अपना काम ऐसे लोगों के सिपुर्द कर देना पड़ेगा जो उसकी अपेक्षा अधिक युवक, अधिक हट्टे-कट्टे और अधिक स्वस्थ हैं। हमारी समझ में तो अब यूरोप का प्रताप-सूर्य अपने शीर्षविन्दु पर पहुँच गया है और उसका असाधारण औपनिवेशिक विस्तार उसके बलवान् होने का नहीं बल्कि उसके दुर्बल होने का परिचायक है। चाहे इस समय युरोप की शान शौकत और ताकत कितनी ही क्यों न बढ़ गई हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस समय उसमें जितना पारस्परिक विरोध है, उतना आज तक कभी नहीं हुआ था। और वह इस समय बड़ी बुरी तरह से अपना कष्ट और दुःख छिपा रहा है। उसका अन्त जल्दी जल्दी समीप आ रहा है।"

यूरोप के साथ हम लोगों का जो सम्बन्ध हो गया है, उससे हमारा बहुत कुछ लाभ भी हुआ है और बहुत कुछ हानि भी। आर्थिक और मानसिक दृष्टि से तो हमारा लाभ हुआ है और नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टि से हमारी हानि हुई है। मुसलमान लोग लगातार बहुत दिनों तक लड़ने झगड़ने के कारण कुछ ठण्डे पड़ गये थे, पर वे बिल्कुल मर नहीं गये थे। यद्यपि तोपों और बन्दूकों की सहायता से वे उस समय जीत लिये गये हैं, तथापि उनकी एकता ज्यों की त्यों बनी हुई है। यद्यपि यूरोप वालों ने उनको बुरी तरह अपने शासन में जकड़ रक्खा है, तथापि उनमें एका मौजूद है। इधर पच्चीस वर्षों में हमने ज्ञान, विज्ञान और कला आदि में इतनी उन्नति की है, कि हमें आशा है कि पच्चीस वर्ष से पहले ही हम इन सब बातों में यूरोप वालों की बराबरी करने लग जायँगे।

"इस हिजरी चौदहवीं सदी में मानों हमारा एक नया युग आरम्भ हो रहा है। यहीं से हमारा पुनरुद्धार आरंभ होगा और हमारा भविष्य सुधरने लगेगा। सारे संसार के मुसलमानों में एक नवीन जीवन का संचार हो रहा है। अब सब मुसलमान काम करने की आवश्यकता समझने लगे हैं। अब हम सब लोग यात्रा, व्यापार और धन-संचय करना चाहते हैं, अब हम विपत्तियों का सामना करने के लिए भी तैयार हो गये हैं। इस समय मुसलमानों में ऐसी जागृति हो रही है, जैसी आज से पचीस वर्ष पहले बिलकुल नहीं थी।"

अपनी पुस्तक के अन्त में सिद्दीक ने कहा था—"अब हम सब लोगों को दृढ़तापूर्वक मिलकर एक हो जाना चाहिए और अपने उद्धार की पूरी आशा करनी चाहिए। अब हम लोग खूब अच्छी तरह उन्नति के मार्ग में लग गये हैं, अब हमें इस अवसर से पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए। यूरोप के अत्याचार ने ही हम लोगों में यह विलक्षण परिवर्तन उत्पन्न किया है। यूरोप से सम्बंध हो जाने के कारण ही अब हमारा विकास अच्छी तरह होगा और हमारा पुनरुद्धार जल्दी जल्दी होगा। यह तो केवल इतिहास की पुनरावृत्ति मात्र है। लगातार विरोध और लगातार प्रतिकार होने पर भी ईश्वर की इच्छा पूरी हो रही है। एशिया वालों पर यूरोप वालों का अधिकार दिन पर दिन नाम मात्र का होता जाता है। एशिया के द्वार क्रमशः यूरोप वालों के लिए बन्द होते जाते हैं। अवश्य ही हम लोग एक ऐसी राज्यशक्ति बनेंगे जिसकी उपमा सारे संसार के इतिहास में कहीं न मिलेगी। एक बिलकुल नया युग आरम्भ होना चाहता है।"

सारे संसार में मुसलमानों की संख्या बीस पच्चीस करोड़ के लगभग है। धूसर वर्ण के सभी प्रदेशों में, एक भारत को छोड़कर, अधिकांश उन्हींकी बसती है। यहाँ तक कि चीन में भी प्रायः एक करोड़ मुसलमान हैं। आफ्रिका के हवशियों में भी दिन पर दिन इस्लाम धर्म का प्रचार बढ़ता ही जाता है। उनका धार्मिक कट्टरपन सारे संसार में प्रसिद्ध है। जो व्यक्ति एक बार मुसलमान हो जाता है, वह फिर कभी अपना धर्म नहीं छोड़ता। यहाँ तक कि उसकी सन्तान भी फिर कभी इस्लाम धर्म से मुँह नहीं मोडती। चाहे इस समय वे कुछ दब गये हों, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वे सदा के लिए बेदम हो गये हों इन सब बातों को देख देखकर हमारे गौरांग महाप्रभु मन ही मन चिन्तित हो रहे हैं। अब यही देखना बाकी है कि यह चिन्ता उनमें सुबुद्धि उत्पन्न करती है या कुबुद्धि। साधारणतः माना तो यही जाता है कि चिन्ता के समय मनुष्य की बुद्धि और भी अधिक भ्रष्ट हो जाती है और वह उलट पुलट काम करने लगता है। और इस समय गोरों में लक्षण भी कुछ ऐसे ही दिखाई पड़ते हैं। पर फिर भी यूरोप वालों में समझदारों का एक दम अभाव नहीं हो गया है, इसलिए हमें आशा करनी चाहिए कि वे ज़माने का रुख देखकर संकट आने से पहले ही सचेत हो जायेंगे।

संसार में मुसलमानों की संख्या एक तो योंही कुछ कम नहीं है, दूसरे वह संख्या दिन पर दिन आफ्रिका आदि देशों में बढ़ती जाती है। और तीसरी भयंकर बात यह है कि सारे संसार के मुसलमान अपने कल्याण के लिए मिलकर एक होने का उद्योग बहुत दिनों से कर रहे हैं। कुछ लोग समझते हैं कि वर्तमान खिला-

तन के प्रश्न के कारण ही मुसलमानों में इतनी जागृति और एकता दिखाई देती है। पर यह बात ठीक नहीं है। सारे संसार के मुसलमान सैकड़ों वर्षों से एक होने का उद्योग कर रहे हैं। इस उद्योग के अनेक रूप और अनेक प्रकार हैं। उनमें से एक सिनूसिया सम्प्रदाय भी है। उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ में अल्जीरिया में सैयद मुहम्मद बिन सिनूसी नामक एक नेता उत्पन्न हुआ था, जो अपना वंश-सम्बन्ध हजरत मुहम्मद की कन्या फातिमा के साथ स्थापित करता था। अपनी युवावस्था में वह मक्के गया था, जहाँ उसकी भेंट कुछ वहाबियों के साथ हुई थी। वहाबियों के आन्दोलन का उसपर अच्छा प्रभाव पड़ा और वहाँ से लौटकर आफ्रिका में उसने अपना सिनूसिया सम्प्रदाय स्थापित किया। उसके जीवन काल में ही दूर दूर के अनेक मुसलमान सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये थे। आजकल उसका पोता इस सम्प्रदाय का आचार्य है। वह सहारा के रेगिस्तान में एक ऐसे ही सुरक्षित और गुप्त स्थान में रहता है जहाँ इसके अनुयायी और सम्प्रदाय के लोगों के अतिरिक्त और कोई पहुँच ही नहीं सकता। जो मुसलमान उस स्थान को जानते हैं, वे चाहे मार भी डाले जायँ, तो भी वे वहाँ का मार्ग किसी अपरिचित को नहीं बतला सकते और न किसी को वहाँ ले जा सकते हैं। सिनूसी सम्प्रदाय के सभी केन्द्र में सारे उत्तर आफ्रिका में भिन्न भिन्न शाखायें और मदरसे आदि स्थापित करते हैं।

सारा सहारा रेगिस्तान मानो एक प्रकार से सिनूसी सम्प्रदाय के ही अधिकार में है और वहाँ, मुसलमानी [illegible] आदि होते हैं, पर सम्प्रदाय का पूर्ण प्रभाव है [illegible] प्रकार ही नहीं, [illegible]

धर्म के अचार्यों तथा अधिकारियों आदि का वहाँ तथा दूर दूर के देशों में बहुत अधिक प्रभाव है। उनके धार्मिक अधिकारी "मुक़द्दम" और राजनीतिक अधिकारी "वक़ील" कहलाते हैं। इन मुक़द्दमों अथवा वकीलों के मुँह से जो कुछ निकल जाता है, उसे वहाँ के सधर्मी लोगों को, चाहे वे सिनूसी संप्रदाय में हों और चाहे न हों, अवश्य मानना पड़ता है। वहाँ के जिन प्रदेशों में अंग्रेज़ों, फ्रांसीसियों अथवा इटालियनों आदि का राज्य है, वहाँ भी इन सिनूसियों की आज्ञा चलती है। वे लोग इस बात का भी पूरा पूरा ध्यान रखते हैं कि कहीं गोरे अधिकारियों के साथ हमारी मुठभेड़ न हो जाय और हमारे काम में बीच में ही बाधा न आ पड़े। वे गोरे अधिकारियों से लड़ते भिड़ते तो नहीं हैं, पर हाँ, अपने सिद्धान्तों के प्रचार आदि में भी वे कभी कमी नहीं करते। उनका मुख्य उद्देश सारे संसार के मुसलमानों को मिलाकर एक करना है। उनका विश्वास है कि मुसलमानों को गोरों के शासनाधिकार से निकलने के पहले पूर्ण रूप से अपनी आत्मिक उन्नति कर लेनी चाहिए और यही कारण है कि वे अभी अपने यहाँ के राजनीतिक अधिकारियों के साथ झगड़ा मोल नहीं लेते। वे शांति और धैर्यपूर्वक अपना काम बराबर करते चलते हैं और अपने अनुयायियों तथा साथियों की संख्या बढ़ाते रहते हैं। विशेषतः आफ्रिका के हबशियों में तो सिनूसी मत का बहुत ही शीघ्रतापूर्वक प्रचार हो रहा है।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे नेता आदि हैं जो सारे संसार के मुसलमानों को मिलाकर एक करना चाहते हैं। पर ये यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे गोरे अधिकारी कितने

बलवान हैं और उनके मुकाबले में हम कितने दुर्बल हैं। वे यह बात भी अच्छी तरह समझते हैं कि यदि हम अपना बल बढ़ने से पहले ही बलवानों के साथ भिड़ जायेंगे, तो हमारी कितनी हानि होगी। वे उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करते हुए चुपचाप अपना काम करते जाते हैं। यही कारण है कि यहां के मुसलमानों ने अभी तक गोरों के विरुद्ध कोई भारी और भीषण उपद्रव नहीं खड़ा किया। उनके जो कुछ उपद्रव हुए हैं, वे छोटे मोटे और स्थानिक ही हैं। १९१४ में यूरोपियन युद्ध के आरंभ होने पर जहाद का झगड़ा न उठने का भी यही कारण है। पर जो लोग समझदार हैं, वे अच्छी तरह समझते हैं कि जहाद का झगड़ा खड़ा करने के साधन दिन पर दिन बढ़ते जाते हैं।

गत शताब्दि के अन्त में यूरोपियनों ने आफ्रिका [illegible] एशिया पर अधिकार कर लिया और [illegible] ने और प्रतिस्पर्धियों ने आपस में मिल और समझ कर बांट लिया। इस बात से संसार के सभी मुसलमानों में भीतर ही भीतर बहुत कुछ असन्तोष बढ़ गया है। यही कारण है कि जब १९०५ में जापानने रूस पर विजय प्राप्त की, तब मुसलमान इस विजय से बहुत ही प्रसन्न हुए। जापानी मूर्तिपूजक हैं और मुसलमानों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार वे ईसाइयों और यहूदियों की अपेक्षा [illegible] हुए हैं। इसी लिए जापान की विजय से सारे संसार के मुसलमान प्रसन्न हुए थे। इससे यह भी सिद्ध होता है कि इस राजनीतिक विरोध के कारण एशिया और आफ्रिका की जातियों में परस्पर सहानुभूति है और वे समय पड़ने पर मिलकर एक हो सकती हैं। सन् १९[illegible] में फ्रान्स के एक समाचार पत्र ने [illegible]

शित हुआ था—"फारस भी जापान की तरह बलवान् होकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना चाहता है, इसलिए इस समय उसे जापान के साथ मिल जाना जाहिए। ऐसी दशा में दोनों देशों में मित्रता का सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक हो जाता है। तेहरान में एक जापानी राजदूत रहना चाहिए। फारस को अपनी सेना में सुधार करने के लिए भी जापान से अफसर बुलाने चाहिएँ और दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध भी बढ़ना चाहिए। "उस समय कुछ मुसलमान तो ऐसे भी थे जो जापानियों को भी इस्लाम धर्म के झण्डे के नीचे लाने का उपाय सोच रहे थे। रूस-जापान युद्ध की समाप्ति के थोड़े ही दिनों बाद चीन के एक मुसलमान शेख ने लिखा था—"यदि जापान यह चाहता हो कि किसी समय हम संसार में बहुत बड़ी शक्ति बन जायँ और सारे संसार पर एशिया का प्रभुत्व हो, तो उसे इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेना चाहिए।" इस पर मिस्र के एक राष्ट्रीय समाचार पत्र ने टीका करते हुए लिखा था—"भारत में इंगलैण्ड के अधिकार में ६,००,००,००० मुसलमान हैं, इसलिए वह जापान के इस धर्म-परिवर्तन से डरता है। यदि जापान मुसलान हो जायँ तो मुसलमनों की नीति एक दम ही बदल जाय।" इसके उपरान्त कुछ मुसलमान धर्मोपदेशक जापान गये भी थे। वहाँ उनका अच्छा स्वागत हुआ था। यह ठीक है कि जापानियों का स्वप्न में भी मुसलमान होने का विचार नहीं था, पर इस घटना से यह अवश्य सिद्ध होता है कि आवश्यकता पड़ने पर अन्य वर्णों के लोग गोरों के विरुद्ध मिलकर एक हो सकते हैं।

अस्तु, इस घटना के थोड़े ही दिनों बाद लोगों ने यह बात

अच्छी तरह समझ ली कि पश्चिमी एशिया तक पहुँच कर वहाँ के लोगों का परित्राण करने का जापान का तनिक भी विचार नहीं है। इसी बीच में मुसलमानों को गोरे ईसाइयों के हाथों और भी अधिक हानियाँ सहनी पड़ीं। १९११ में इटली ने तुर्की के अधिकृत अधीनस्थ राज्य ट्रिपोली पर खुले आम आक्रमण कर दिया। उसके इस कृत्य से मुसलमान इतने क्षुब्ध और क्रुद्ध हुए कि अनेक यूरोपियन राजनीतिज्ञ बहुत ही भयभीत हो गये। फ्रान्स के एक भूतपूर्व पर-राष्ट्र सचिव ने इस सम्बन्ध में लिखा था—"जो ट्रिपोली अपनी कुछ भी रक्षा नहीं कर सकता था, वही इस समय इटली के लिए भिड़ों का छत्ता क्यों कर बन गया? इसी लिए कि इटली ने केवल तुर्की को ही नहीं, बल्कि सारे इस्लाम धर्म को छेड़ा है। इटली ने एक ऐसा झगड़ा मोल लिया है, जो केवल उसी के लिए नहीं, बल्कि हम सब लोगों के लिए भी बहुत ही बुरा है।" ट्रिपोली पर इटली ने अधिकार करके मानों यह प्रमाणित किया था कि अब मुसलमानों पर ईसाइयों का आक्रमण आरम्भ हो गया है, क्योंकि इसके दूसरे ही वर्ष बाल्कन युद्ध छिड़ गया, जिसमें यूरोप से तुर्की निकाल दिया गया और इसकी बहुत ही दुर्दशा की गई। इससे सारे संसार के मुसलमानों में और भी अधिक क्रोध फैल गया। इस युद्ध के सम्बन्ध में भारत के एक मुसलमान नेता ने लिखा था—"यूनान ने [illegible] एक नया धार्मिक युद्ध छेड़ दिया है। इंग्लैण्ड और रूस इस समय [illegible] चाहते हैं जो यूरोप में हमारे अधिकार में हैं। कल को वे केवल हमारे जेरुसलेम आदि पवित्र तीर्थों को अपने अधिकार में लाने के स्वप्न देखने लगेंगे। भाइयो, अब तुम सब मिलकर एक हो

जाओ और यह समझलो कि प्रत्येक सच्चे मुसलमान का यह परम कर्तव्य है कि वह खलीफा के झण्डे के नीचे आवे और अपने धर्म की रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राण तक दे दे।" एक दूसरे भारतीय मुसलमान नेता ने अँग्रेज अधिकारियों को सचेत करते हुए कहा था—"मैं वर्तमान सरकार से प्रार्थना करता हूँ कि वह तुर्कों का विरोध करने की नीति अभी से छोड दे। कहीं ऐसा न हो कि उनकी इस नीति से करोड़ों मुसलमानों में विरोध की आग भड़क उठे और कोई भारी अनर्थ हो जाय।" कुछ मुसलमानों ने तो हिन्दुओं और बौद्धों से भी यह प्रार्थना की थी कि आप लोग सचेत हो जाइये और गोरों के इस बढ़े हुए आक्रमणों को रोकिये; और इस विपत्ति के समय हमारी सहायता कीजिये। हिमालय पर्वत में रहने वाले आपके महात्मा लोग उठें और आपके देवता आ कर हमारे शत्रु का नाश करें। चीन में भी इसी प्रकार का भ्रातृभाव उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जा रहा था। जिस समय चीन में प्रजा-तन्त्र वाली राज्यक्रान्ति हुई थी, उस समय वहाँ के मुसलमान चीनियों ने अपने बौद्ध भाइयों को स्वतंत्र होने में पूरी पूरी सहायता दी थी। इस पर प्रजातंत्रवादियों के नेता डा० सन् यार सेन ने कृतज्ञता पूर्वक यह घोषणा की थी—"चीन में व्यवस्था और स्वतंत्रता स्थापित करने में हमारे मुसलमान भाइयों ने जो सहायता दी है उसे चीनी कभी न भूलेंगे।" तात्पर्य यह कि यूरोप के महायुद्ध के समय सारे संसार के मुसलमान गोरों के अत्याचार से अत्यन्त पीड़ित तथा त्रस्त हो चुके थे और अपने सिर से गोरों का बोझ हटाने के लिए अन्य वर्णों के भाइयों के साथ मिलने का उपक्रम कर रहे थे।

परन्तु इतना होने पर भी जब महायुद्ध में तुर्की ने जर्मनी का साथ दिया, तब सारे संसार के मुसलमानों में शांति बनी रही। इस पर कदाचित् कुछ लोगों को आश्चर्य होगा। पर वास्तव में सभी मुसलमान ईसाइयों से असन्तुष्ट थे और उन्होंने चाहे मिल कर गोरों का विरोध न किया हो, पर फिर भी जहाँ तहाँ उनका वह असन्तोष प्रकट अवश्य हुआ था। मिस्र का उपद्रव शान्त करने के लिए वहाँ अंगरेजों को नई सेनाएँ भेजनी पड़ी थीं। ट्रिपोली के मुसलमानों ने इटली के विरुद्ध सिर उठाया था और वहाँ के इटालियनों को समुद्र तट पर भाग जाने के लिए विवश किया था। यदि रूस ठीक समय पर बीच में आ कर फारस को न दबा देता, तो फारस अवश्य ही तुर्की से मिल जाता। भारत के सीमा प्रान्तों में भी वहाँ के मुसलमानों ने कुछ न कुछ उपद्रव मचाया ही था, जिसे दबाने के लिए अंगरेजों को वहाँ [illegible] ढाई लाख सेना भेजनी पड़ी थी। स्वयं ब्रिटिश सरकार ने यह बात मंजूर की थी। १९१९ में मित्रों के हाथ से उनके एशिया तथा आफ्रिका के अधीनस्थ देश निकलते निकलते बच गये।

यदि उस समय मुसलमानों के नेता चाहते तो बहुत सम्भव था कि एशिया और आफ्रिका के अधीनस्थ प्रदेश मित्रों के हाथ से निकल ही जाते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया, बल्कि उनमें अनेक स्थानों पर तो उन्होंने यथासाध्य मित्रों की सहायता की और अपने आदमियों को विद्रोह तथा उपद्रव आदि करने से रोका। [illegible] कि वे अपनी सरकारें समझते थे कि पश्चिम वालों के साथ इतने [illegible] रहे थे। यह उपयुक्त व्यवहार नहीं है। इसके अतिरिक्त इस समय वे न तो गोरों का विरोध और मुकाबला करने के लिए

तैयार थे और न उन लोगों में आपस में किसी प्रकार का सम-झौता आदि ही हुआ था। साथ ही वे यह भी जानते थे कि इस समय हमारे खलीफा जरमानों के हाथ की कठपुतली हो रहे हैं। वे जरमनों को भी उतना ही भयंकर समझते थे, जितना अन्यान्य यूरोपियनों को; क्योंकि यदि वे अपने पुराने अधिकारियों का विरोध करते तो उसका परिणाम अधिक से अधिक यही होता कि वे अपने पुराने मालिकों के हाथ में से निकल कर नये मालिकों के हाथ में पड़ जाते और उनकी और भी अधिक दुर्दुशा होती। इसलिए उन्होंने सोचा कि इस समय इन गोरों को आपस में खूब कटने मरने दो और दुर्बल हो जाने दो। तब आगे चलकर हम लोग इनसे समझ लेंगे। इस बीच में हमें अपनी उन्नति करने और अपना बल बढ़ाने का और भी अधिक अवसर मिल जायगा। साथ ही तब तक हमें इनकी नेकनीयती या बदनीयती का और भी पता लग जायगा। यही सब बातें सोच समझ कर उस समय मुसलमान चुपचाप रह गये।

वार्सेल्स की शान्ति-महासभा में जो कुछ निर्णय हुआ, उससे मुसलमानों को, यूरोपियनों की नीयत का ठीक ठीक पता चल गया। वे पहले से ही किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे जिसमें उन्हें गोरों की नीति का पूरा पूरा पता लग जाय और फिर किसी को कुछ कहने सुनने की आवश्यकता न रह जाय। शान्ति-महासभा ने अनायास ही उनको यह अवसर दे दिया और वे अपने भाइयों को जागृत करके अपना कार्यक्रम पूरा करने की चिंता में लग गये। वार्सेल्स में यूरोप की गोरी महाशक्तियों ने अच्छी तरह यह बात प्रमाणित कर दी कि हम पूर्वी यूरोप

तथा पश्चिमी एशिया में अपना अधिकार कुछ भी कम करना नहीं चाहते, बल्कि जहाँ तक हो सके, उसे और भी बढ़ाना चाहते हैं। युद्ध-काल में ही सब महाशक्तियों ने आपस में गुप्त सन्धियाँ तथा समझौते करके पहले से ही यह निश्चय कर लिया था कि हम तुर्क साम्राज्य को आगे चलकर इस प्रकार बाँट लेंगे। वार्सेल्स में तुर्क साम्राज्य के सम्बन्ध में जो कुछ निर्णय हुआ था, वह इन्हीं गुप्त सन्धियों और समझौतों के आधार पर हुआ था। इसके अतिरिक्त युद्ध के आरंभ में ही अँगरेजों ने घोषणा करके मिस्र को अपने संरक्षण में ले लिया था और शांति महासभा के समय ही इंगलैण्ड ने फारस के साथ एक समझौता होने की घोषणा कर दी। इस समझौते के अनुसार चाहे नाम के लिए न हो, पर वास्तव में फारस भी अँग-रेजों के संरक्षण में आ गया था। इसका परिणाम यही हुआ कि पूर्वी एशिया और पश्चिमी एशिया में यूरोपियनों का राजनीतिक प्रभुत्व इतना अधिक बढ़ गया जितना पहले कभी नहीं था।

लेकिन एक बात और थी। युद्धकाल में मित्र-राष्ट्रों के राज-नीतिज्ञों तथा अधिकारियों ने एक नहीं अनेक बार इस बात की घोषणा की थी कि इस युद्ध का उद्देश्य केवल यही है कि सभी जातियों के लोग स्वतन्त्र हो जाएँ और छोटे छोटे राष्ट्रों के अधि-कारों की रक्षा हो। एशिया के सभी राष्ट्रों और देशों ने इन घोषणाओं पर अपनी सारी आशाएँ लगा रखी थीं। वे समझते थे कि यूरो-पियन राजनीतिज्ञ इस समय जो कुछ कह रहे हैं और जो वादे कर रहे हैं, वे युद्ध की समाप्ति पर अवश्य पूरे होंगे। इन घोषणा-ओं और वादों को सभी इसलिए अक्षरशः ठीक मान लिया था। पर आगे चल कर इन लोगों ने देखा कि यूरोपियन के जो

सन्धि हुई, वह इन घोषणाओं और वादों आदि के आधार पर नहीं बल्कि मित्रों की ऐसी सन्धियों के आधार पर हुई है, जो उन्होंने अपना साम्राज्य बढ़ाने के उद्देश्य से आपस में की थीं। यह देखते ही उनकी क्रोधाग्नि भड़क उठी और उन्होंने समझ लिया कि हमारे साथ घोर अन्याय और विश्वास-घात हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि एशिया के सभी राष्ट्र और देश बिगड़ खड़े हुए और अपना बन्धन छुड़ाने के लिए प्रयत्न में दृढ़ता पूर्वक लग गये। उनके इस उद्योग को देख कर अनेक यूरोपियन राजनीतिज्ञ मन ही मन बहुत चिंतित हो रहे हैं और वे समझते हैं कि शीघ्र ही कोई भारी उपद्रव खड़ा होने वाला है। एशिया पर युद्ध का जो कुछ प्रभाव पड़ा था, उसका वर्णन करते हुए इटली के एक बहुत बड़े राजनीतिज्ञ ने १९१९ में कहा था—"इस समय सारे मुसलमान और एशियावासी बहुत ही अधिक चंचल हो उठे हैं। चीन से भूमध्य सागर तक बड़ा भारी असन्तोष उत्पन्न हो गया है। सब जगह अंदर ही अंदर यूरोपियनों के प्रति घृणा और विरोध की आग सुलग रही है। मोरक्को के बल्वे, एलजियर्स के उपद्रव, ट्रिपोली का असन्तोष और मिश्र, अरब तथा लीबिया आदि के राष्ट्रीय आंदोलन इसी बात का पता दे रहे हैं कि सब जगह लोग युरोपियनों से परम असंतुष्ट हैं और सब लोग मिल कर युरोपियनों के विरुद्ध बड़ा भारी बलवा खड़ा करना चाहते हैं।

युद्ध की समाप्ति के समय से ही मिश्र में जो जो घटनाएँ हो रही हैं, उनसे इस बात का पता चलता है कि यूरोप वालों के प्रति एशियावालों के भाव कैसे हो रहे हैं। इंग्लैण्ड ने १८८२ में मिस्र पर अधिकार किया था। पर आज तक अँगरेज वहाँ कभी सर्व-

प्रिय नहीं हुए। दिन पर दिन वहाँ का राष्ट्रीय आन्दोलन बराबर बढ़ता ही गया और वहाँ वाले इस बात का उद्योग करने लगे कि हमारा देश अँगरेज़ों के अधिकार से निकल कर बिलकुल स्वतन्त्र हो जाय और अँगरेज हमारे देश से निकल जायँ। पर इंग्लैण्ड ने कभी उनकी ऐसी बातों पर विचार करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। प्रायः सभी अँगरेज राजनीतिज्ञ यही समझते थे कि ब्रिटिश साम्राज्य के पूर्वी और पश्चिमी हिस्सों को जोड़ने वाली कड़ी मिस्र ही है; और इसीलिए वे कहते थे कि मिस्र पर सदा के लिए हमारा पूरा पूरा अधिकार रहना चाहिए। इस से सिद्ध होता है कि इंग्लैण्ड और मिस्र के उद्देश्य तथा स्वार्थ में आकाश-पाताल का अंतर था और मिस्र में अब तक जितने उपद्रव आदि हुए, वे सब इसी अंतर के कारण हुए थे। युद्ध के पहले ही मिस्र वाले इतने अधिक बिगड़ खड़े हुए थे कि अँगरेज़ों ने अच्छी तरह समझ लिया कि अब शांत उपायों से मिस्र हमारे हाथ में नहीं रह सकता; और इसीलिए उन्होंने दमन और [illegible] आरम्भ कर दिया। लार्ड किचनर ने वहाँ पहुँच कर कठोर और भीषण उपायों से वहाँ के राष्ट्रीय आन्दोलन को दबाने का उद्योग आरम्भ किया। जब यूरोप में महायुद्ध छिड़ा और तुर्की ने जर्मनी का साथ दिया, तब मिस्र में फिर और उपद्रव आरम्भ हुए। इस पर इंग्लैण्ड ने वहाँ और भी भीषण दमन आरम्भ कर दिया और मिस्र के शत्रु पक्ष में मिल जाने का बहाना निकाल कर मिस्र पर से तुर्की का अधिकार हटा कर उसको अपने संरक्षण में ले लिया।

युद्ध-काल में मिस्र को दबाये रखने के लिए अँगरेज़ों ने वहाँ

अपनी बहुत अधिक सेनाएँ भेज दीं। पर जब युद्ध समाप्त हो गया, तब वहाँ फिर राष्ट्रीय आंदोलन जोरों से आरंभ हुआ। मिस्रों के राजनीतिज्ञ तो पहले से ही अनेक बार यह कह चुके थे कि छोटे छोटे राष्ट्रों के अधिकारों की रक्षा होगी और सब देशों के निवासी स्वतंत्र कर दिये जायँगे। बस उनके उन्हीं कथनों के आधार पर मिस्र के राष्ट्रीय दल वाले कहने लगे कि हमें पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उन्होंने इस बात का भी प्रयत्न किया था कि वार्सेल्स की शांति-महासभा में मिस्र का प्रश्न भी स्वतंत्र रूप से उपस्थित हो। अंगरेजों के बहुत रोकने और मना करने पर भी उन्होंने सारे देश का मत एकत्र किया, जिससे सिद्ध होता था कि मिस्र के प्रायः सभी निवासी पूर्ण स्वतंत्र होना चाहते हैं। जब अंगरेजों ने उन नेताओं को पकड़ना आरंभ किया, जिन्होंने ब्रिटिश अधिकारियों के लाख रोकने और मना करने पर भी स्वतंत्रता के सम्बन्ध में सारे देश का मत संग्रह किया था, तब सारे मिस्र में भीषण विद्रोह मच गया। सब जगह एक ही से उपद्रव होने लगे। रेल की लाइनें और तार तोड़ डाले गये; रेल गाड़ियां तोड़ी, फोड़ी और लूटी गईं; अकेले-दुकेले अंगरेज अधिकारियों और सैनिकों की हत्या होने लगी। एक काहिरा में ही हजारों मकान तोड़ कर ढा दिये गये। अरब के वद्दू वहाँ पहुँच कर और भी अधिक लूट मार करने लगे। सारे मिस्र में अराजकता फैल गई और पार्लियामेण्ट में ब्रिटिश सरकार को यह बात मंजूर करनी पड़ी कि सारा मिस्र विद्रोही हो गया है।

इतना होने पर भी अंगरेजों की मति ठिकाने नहीं आई और उन्होंने दृढ़तापूर्वक दमन आरंभ किया। एक तो पहले से ही वहाँ

बहुत अधिक अंगरेज सैनिक मौजूद थे । दूसरे अंगरेजों ने हिन्दुस्तान से वहाँ बहुत सी काली पल्टनें भी ला रक्खीं । मिस्र की देशी पुलिस ने भी, भारत की देशी पुलिस की भाँति, दमन में अंगरेज अधिकारियों को खूब सहायता दी । बहुत कुछ उपद्रव, दमन, अत्याचार और दमन आदि के उपरांत अंगरेजों ने फिर एक बार मिस्र को दबा कर वहाँ अपना पूरा पूरा अधिकार जमा लिया । पर यह अधिकार भी स्थायी न रह सका और मिस्र में फिर उपद्रव आरम्भ हुए । निरंतर उपद्रव होता देख कर अंगरेजों ने शांति स्थापित करने का प्रयत्न आरंभ किया और मिस्र वालों को अपनी ओर मिलाना चाहा । पर वे लोग [illegible] हो सकते थे और हमारे देश के नरमदल की भाँति [illegible] से संतुष्ट नहीं हो सकते थे । इसलिए विवश हो कर अंगरेजों [illegible] मिस्र को अनेक अंशों में स्वतंत्रता देकर संतुष्ट करना पड़ा ।

अब भारत को लीजिये । कुछ दिन से यहाँ जो असंतोष फैला हुआ है, उससे यहाँ के अंगरेज अधिकारी कितने परेशान हो रहे हैं, यह सभी लोग जानते हैं । यहाँ प्रायः सौ वर्षों से अंगरेजों का राज्य है । पर यहाँ कभी [illegible] अंगरेजों के शासन से संतोष नहीं हुआ । इधर तीन चार वर्षों से यह असंतोष बढ़कर [illegible] और [illegible] अधिक उग्र धारण कर लिया है । पहले तो भारत के स्वतंत्रता के लिए जो आंदोलन होता था, वह केवल [illegible] और [illegible] लोग अंगरेजों की [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] के [illegible] और [illegible] को [illegible]

नहीं होने दिया और मुसलमानों को अपनी ओर मिलाये रखा। पर कागज़ की नाव कहाँ तक चल सकती थी! जब सारे संसार के मुसलमान मिलकर एक होने लगे और भिन्न भिन्न स्थानों में गोरों के प्रभुत्व का विरोध करने लगे, तब भारत के मुसलमानों की भी आंखे खुलीं और वे अपना पुराना विरोध और वैमनस्य भूलकर हिन्दुओं के साथ उनके राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हो गये और अंग्रेजी शासन का विरोध करने लग गये।

युद्ध काल में सारा भारत पूर्ण रूप से शांत था। यहाँ के निवासियों ने तन, मन और धन से युद्ध में पूरी पूरी सहायता दी थी। उन्होंने अंगरेजों को यह सहायता इसी आशा से दी थी कि आगे चलकर हमारी इस राजभक्ति का हमें यथेष्ट पुरस्कार मिलेगा और हम स्वतंत्र कर दिये जायेंगे। अंग्रेज़ों ने भी भारतवासियों की आंखों में धूल झोंकने के लिए उन्हें थोड़ा बहुत अधिकार देना चाहा; पर साथ ही उन्होंने यहाँ की दीन प्रजा को यह भी दिखला देना चाहा कि युद्ध में लाख दुर्बल हो जाने पर भी हम तुम्हारा दमन करने के लिए यथेष्ट सबल हैं। और यदि तुम सदा के लिए चुपचाप हमारे गुलाम बने रहना न मंजूर करोगे तो हम तुम्हें पीस डालेंगे। पंजाब का मार्शल ला और जलियानवाला बाग का हत्याकाण्ड भारत में अंग्रेज़ों का अधिकार और मर्यादा स्थापित रखने के उद्देश्य से ही हुआ था। इसी बीच में खिलाफत का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था, जिसके कारण मुसलमान भी परम असन्तुष्ट थे। एक बार तो अंग्रेज़ों ने पंजाब में अपना पूरा बल दिखला कर और दमन करके लोगों को थोड़े समय के लिए शांत कर दिया पर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए एक बार जो उद्योग आरम्भ हो जाता

है, वह फिर सदा के लिए कभी नष्ट नहीं किया जा सकता। इसलिए थोड़े ही दिनों में भारत में फिर भीषण रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस बार उसने असहयोग का रूप धारण किया। संसार के सब से बड़े जीवित महापुरुष महात्मा गांधी ने सारे संसार के राष्ट्रीय आन्दोलनों का पूरा पूरा अध्ययन करके असहयोग आन्दोलन का आरम्भ किया। महात्मा गान्धी भारतीय और वैष्णव थे, इसलिए उन्होंने अपना आन्दोलन बिल-कुल शान्तिमय रक्खा और पहले से ही ऐसा उद्योग किया, जिससे कहीं उपद्रव, उत्पात या मार-काट आदि न होने पावे। भारतीय मुसलमानों को भी उनका बतलाया हुआ उपाय बहुत पसन्द आया और उन्होंने भी सहर्ष महात्मा गांधी का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। प्रायः दो वर्षों तक यह आन्दोलन भीषण रूप से चलता रहा। इसके लिए भारत के सैकड़ों छोटे बड़े नेता जेल गये और हजारों पढ़े लिखे लोगों ने उनका अनुकरण किया। बीच में कुछ कारणों से यह आन्दोलन थोड़े समय के लिए रुक रुक गया था; पर वह फिर दूसरे रूप में जोरों से आरम्भ होने जाता था। भारत की प्रायः सारी जनता और सभी पढ़े लिखे लोगों ने इस आन्दोलन के साथ अपनी पूरी पूरी सहानुभूति दिखलाई थी और इसका पक्ष ग्रहण भी किया है। इसके विरोधी बहुत थोड़े थे। इस आन्दोलन ने गत ही तीन वर्षों में इतनी अधिक जागृति उत्पन्न कर दी थी। चाहे स्वराज्य प्राप्त करने में इस आन्दोलन को सफलता न हुई हो पर देशवासियों और अधिकारियों दोनों की आँखें खोलने में इस आन्दोलन ने बहुत ही विलक्षण और आशातीत सफलता प्राप्त की थी।

आगे बढ़ने से पहले हम यहाँ संक्षेप में असहयोग आंदोलन और उसके स्वरूप के सम्वंध में कुछ बातें बतला देना आवश्यक समझते हैं। जब भारतवासियों ने भली भाँति देख लिया कि रॉलेट एक्ट जलियान वाला बाग हत्याकांड और खिलाफत के सम्वंध में हमारी मांग पर सरकार कुछ भी ध्यान नहीं देती, तब सितम्बर १९२० में पंजाब केसरी लाला लाजपतराय के सभापतित्व में कलकत्ते में भारतीय राष्ट्रीय महासभा का विशेष अधिवेशन हुआ। उस अधिवेशन में बहुत कुछ वाद विवाद और सोच विचार के बाद बहुत बड़े बहुमत से असहयोग का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उस समय कहा गया था कि जब तक सरकार पंजाब के हत्याकांड और खिलाफत के प्रश्न पर भारतवासियों के साथ पूरा पूरा न्याय न करेगी और और उनकी मांगें पूरी न करेगी, तब तक भारतवासी कभी संतुष्ट न होंगे और सरकार के साथ कभी किसी प्रकार का सहयोग न करेंगे। उक्त प्रस्ताव के अनुसार निश्चित हुआ था कि जब तक भारतवासियों के साथ पूरा पूरा न्याय न हो और भारतवर्ष में स्वराज्य स्थापित न हो जाय, तब तक के लिए (क) सब लोग सरकारी उपाधियों और अवैतनिक पदों का परित्याग कर दें और जो लोग स्थानिक संस्थाओं में नामजद कर के सम्मिलित किये गये हों वे अपने स्थान से त्यागपत्र दे दें। (ख) लोग सरकारी दरबारों आदि में जाना बन्द कर दें। (ग) धीरे धीरे लोग अपने लड़कों को सरकारी और सरकार द्वारा नियन्त्रित स्कूलों तथा कालेजों आदि से निकाल लें और उनके स्थान पर अपने राष्ट्रीय स्कूल तथा कालेज आदि स्थापित करें। (घ) वकील बॅरिस्टर आदि तथा मुकद्मेबाज लोग धीरे

और सरकारी न्यायालयों में जाना छोड़ दें और अपने निजी झगड़ों का निपटारा करने के लिए अपनी पंचायतें स्थापित करें। (ख) लोग मेसोपोटामिया में सैनिक कुलीगिरी अथवा मजदूरी आदि का काम करने के लिए न जायें। (ग) जो लोग सुधार वाली नई काउन्सिलों के सदस्य होने के उम्मेदवार हैं वे अपनी उम्मेदवारी छोड़ दें और किसी उम्मेदवार के लिए वोट देने वाले वोट न दें। और (घ) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया जाय। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने लोगों को यह भी परामर्श दिया था कि सब लोग स्वदेशी और केवल स्वदेशी वस्त्र का व्यवहार करें। देश करोड़ों बेकारों को [illegible] रोजी नहीं [illegible] इस लिए यह निश्चय किया गया कि लोग हाथ के कते हुए सूत के और हाथ से बुने हुए कपड़ों का व्यवहार करें।

देश में पहले से ही बहुत अधिक क्षोभ फैला हुआ था [illegible] सब लोग बहुत अधिक असंतुष्ट होने के कारण असहयोग [illegible] लिए वह पहले से ही तैयार था। अतः यह कार्यक्रम लोगों को बहुत अधिक पसंद आया और इसके अनुसार इतनी शीघ्रता से काम होने लगा कि थोड़े ही समय में केवल भारत सरकार ही नहीं बल्कि ब्रिटिश सरकार भी घबरा गई और उसे अपने साम्राज्य के परम उज्ज्वल रत्न भारतवर्ष के हाथ से निकल जाने की बहुत बड़ी आशंका होने लगी। देश के प्रायः सभी [illegible] नेता इस आन्दोलन के पक्ष में हो गए और अपने सब काम छोड़ कर देश में जागृति उत्पन्न करने और लोगों को असहयोग का तत्त्व समझाने लगे। हजारों विद्यार्थी कालेज छोड़ कर देश सेवा के काम में [illegible] इस प्रकार का स्वच्छंद और संगठित

करने लगे और स्वदेशी का भी जोरों से प्रचार होने लगा। मद्य तथा दूसरे मादक पदार्थों का व्यवहार भी बहुत कम होने लगा। तात्पर्य यह कि थोड़े ही समय में सारे देश में अपूर्व राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न हो गई और थोड़े ही समय में इतना अधिक काम हो गया जितना आज तक कभी नहीं हुआ था। अप्रेल १९२१ तक यह आन्दोलन बहुत जोरों के साथ चलता रहा। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि भारतवासी विना स्वराज्य प्राप्त किये दम न लेंगे। देश की सारी शक्ति एक ही उद्देश्य की सिद्धि में लगी हुई थी जिससे अधिकारियों को बहुत अधिक चिंता हो रही थी। मई १९२१ के दूसरे सप्ताह में भारत के तत्कालीन बड़े लाट लार्ड रीडिंग ने पं० मदनमोहन मालवीय के द्वारा महात्मा गांधी को शिमले बुलाया। वहां महात्मा गांधी और लार्ड रीडिंग में दो दिन बातें हुई, जिनमें दोनों ने अपने पक्ष की बातें कह सुनाईं। परन्तु कुछ कारणों से उस समय कोई बातें नहीं हो सकीं। असहयोग आंन्दोलन उसी तरह जोरों के साथ चलता रहा और जनता पर महात्मा गान्धी का अधिकार दिन पर दिन बढ़ता ही गया। आन्दोलन को भीपण रूप धारण करते देखकर सरकार ने भी जोरों से दमन-चक्र चलाना आरम्भ किया। पर यह आन्दोलन ऐसा नहीं था जो केवल दमन-चक्र से ही शांत हो जाता। नवम्बर १९२१ में दिल्ली में आल इंडिया कांग्रेस कमेटी का एक अधिवेशन हुआ कि देश में सत्याग्रह आरम्भ हो और सब लोग सत्याग्रह करने के लिए तैयार हो जायँ। इधर असहयोग का जोर बढ़ता जा रहा था और सरकार बड़े बड़े नेताओं तथा हजारों स्वयंसेवकों को पकड़ पकड़ कर जेल भेजती

जा रही थी। उस समय कम से कम पचीस हज़ार आदमी स्वेच्छा-पूर्वक और बड़ी प्रसन्नता के साथ जेल गए थे। महात्मा गांधी ने निश्चय किया था कि फरवरी १९२२ में गुजरात के बारडोली नामक स्थान से सत्याग्रह आरम्भ किया जायगा। इसके लिए वहां पूरी तैयारी हो रही थी। पर इसी बीच में देश के दुर्भाग्य-वश गोरखपुर जिले के चौरी चौरा नामक स्थान में एक भयङ्कर दंगा हो गया, जिसमें कुछ नासमझों ने वहां का थाना जला दिया जिससे वहां के थानेदार और कुछ सिपाही जल मरे। अतः विवश हो कर कांग्रेस कमेटी को यह निश्चय करना पड़ा कि अभी सत्याग्रह रोक दिया जाय और देश को अहिंसा के सिद्धान्त पर अटल रहने के लिए तैयार किया जाय। सत्याग्रह स्थगित हो जाने के कारण बहुत से देशवासी बहुत दुःखी और निराश हुए और इनका उत्साह बहुत ही मन्द पड़ गया। असहयोग और सत्याग्रह की बहुत ज़ोरों के साथ चली हुई लहर मानो किसी भारी चट्टान से टकरा कर पीछे की ओर लौट पड़ी।

सरकार को यह बल मिल गया और उसे अपना बदला निकालने का अच्छा अवसर मिल गया। इसके कुछ ही दिनों बाद महात्मा गांधी राजद्रोह के अभियोग में पकड़े गए और इन्हें छः वर्ष के कारावास का दंड दिया गया। बहुत से नेता पहले ही जेल जा चुके थे। महात्मा गांधी के जेल जाने के बाद धीरे धीरे असहयोग आन्दोलन बिल्कुल ठंडा पड़ गया और स्वराज्य बहुत दूर जा पड़ा।

इस असहयोग आन्दोलन का अंत चाहे जिस प्रकार हुआ हो पर इसकी उपयोगिता में किसी प्रकार का संदेह नहीं। जिस का

सकता। इससे किसी को इन्कार नहीं हो सकता कि सिद्धांततः यह आन्दोलन विलकुल पूर्ण था और यदि इसका पूर्ण रूप से तथा उपयुक्त रीति से पालन किया जाता, तो संसार की कोई शक्ति भारतवासियों को स्वराज्य प्राप्त करने से रोक नहीं सकती थी। भारत में भारतवासियों पर खाली अंगरेज न शासन करते हैं। और न कभी कर सकते हैं। स्वयं भारतवासी ही अपने देश की पराधीनता के लिए उत्तरदायी हैं और वही वहुत बड़ी सीमा तक अपने देश को अंगरेजों के अधीन वनाए हुए हैं। असहयोग आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य यह था कि जो भारतवासी इस देश को विदेशियों के शासन में रखने में सहायक हो रहे हैं वे अपना हाथ खींच लें। बस फिर अंगरेजों का शासन इस देश से आपसे आप उठ जायगा। परंतु कदाचित् अभी देश के भाग्य में स्वाधीन होना नहीं वदा था, इसलिए स्वतंत्रता-प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन भी भारतवासियों को सफल मनोरथ न बना सका। असहयोग राजनीतिक दृष्टि से तो एक वहुत वड़ा और अमोघ शस्त्र था ही, परंतु इसके और भी अनेक पार्श्व थे जो कम उपयोगी या महत्व के नहीं थे। सबसे पहली बात तो यह है कि असहयोग के साथ अहिंसा भी लगी हुई थी। अहिंसावाद कितनी उच्च कोटि का सिद्धान्त है और उसके द्वारा मनुष्य नैतिक दृष्टि से कितने उच्च शिखर पर पहुंच जाता है कदाचित् यह वतलाने की यहां आवश्यकता नहीं है। जो व्यक्ति अहिंसा के सिद्धान्तों का पूर्ण रूप से पालन करता है वह स्वयं तो मनुष्य की कोटि से निकल कर देव कोटि में पहुंच ही जाता है पर साथ ही वह दूसरों पर भी इतना अच्छा प्रभाव डालता है कि वहुत सहज में उनकी वहुत अधिक नैतिक उन्नति कर सकता है। महात्मा गांधी

अहिंसा के परम उपासक थे और उनका सिद्धान्त था कि हिंसा की सहायता से स्वराज्य प्राप्त करने की अपेक्षा देश का अनन्त काल तक पराधीन रहना ही कहीं अच्छा है। इसीलिए उन्होंने चौरी चौरा का हत्याकांड होते ही सत्याग्रह रोक दिया था। असहयोग आन्दोलन देश को केवल स्वाधीन करने के लिए नहीं था, बल्कि जैसा कि एक अवसर पर श्रीयुत द्विजेन्द्रनाथजी टागोर ने कहा था, देशवासियों के सामने एक अच्छा और उच्च आदर्श उपस्थित करने के लिए था। हमारे शासक हमें बहुत ही तुच्छ और नगण्य समझते थे और हमारे विचारों तथा भावों का कोई आदर नहीं करते थे। इसीलिए देश को उनसे असहयोग करने के लिए कहा गया था। यदि हममें और आप में बराबरी का भाव नहीं है तो फिर हमारा और आपका किसी प्रकार साथ या सहयोग नहीं हो सकता। सहयोग और साथ तो सिर्फ बराबरी वालों में हो सकता है। यदि संयोगवश कुछ समय के लिए इस प्रकार का साथ हो भी जाय, तो या तो दुर्बल पक्ष को पद पद पर अपमानित होना पड़ता है और या दोनों में आन्तरिक वैमनस्य उत्पन्न होता जाता है। यह परिस्थिति दोनों ही पक्षों के लिए हानिकारक होती है इसलिए ऐसी परिस्थिति जहाँ तक हो सके शीघ्र दूर कर दी जानी चाहिए।

असहयोग के सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि यह लोगों के चरित्र को उच्च करने वाला और उनमें बल लाने वाला आन्दोलन था। इसका मुख्य आधार नैतिक बल था और यह लोगों में आत्मनिर्भरता तथा स्वावलम्बन का भाव उत्पन्न करने वाला था। यह लोगों को उनके उद्देश्य की उच्चता बतलाने वाला था और

शुद्ध तथा पवित्र उपायों से उस उद्देश्य की सिद्धि कराना चाहता था। जो पाशविक बल केवल दुर्बलों में पाया जाता है, उसका वह नाश करना चाहता था और सबसे बढ़कर बात यह थी कि जो साम्राज्यवाद अपने सामने न्याय और सत्य को कोई चीज नहीं समझता उस साम्राज्यवाद का अन्त करके एक ऐसा मार्ग प्रस्तुत करना चाहता था जिस पर चलकर सारा संसार सुखी और स्वतन्त्र हो। ऐसे उत्तम आन्दोलन को चाहे उस समय किसी कारण वश सफ़लता न प्राप्त हुई हो पर फिर भी उनकी श्रेष्ठता तथा महत्ता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। अब भी यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यही मानना पड़ेगा कि सब वर्णों और सब जातियों का कल्याण इसी प्रकार के सिद्धन्तों पर चलने से हो सकता है और आजकल जिन सिद्धान्तों पर ये गोरी जातियां चल रही हैं, और जिस प्रकार का आदर्श लोगों के सामने उपस्थित कर रही हैं, उसका परिणाम स्वयं उनके लिए भी और दूसरों के लिए भी भीषण दुःख तथा हानि के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। आध्यात्मिक तथा नैतिक विषयों में भारतवासी सदा सब से आगे रहते आए हैं। अब भी वे आगे बढ़कर संसार को इन बातों की शिक्षा देना चाहते थे परन्तु अभी दैव उनके अनुकूल नहीं था। परन्तु फिर भी हमें आशा करनी चाहिए कि कभी न कभी उपयुक्त समय आवेगा और दैव हमारे अनुकूल होगा। उस समय हम फिर आगे बढ़ेंगे और संसार के सामने ऐसे अच्छे आदर्श उपस्थित करेंगे जिनके कारण समस्त मानव जाति के सब प्रकार के दुःखों और दोषों का सदा के लिए अन्त हो जायगा।

अब हम फिर अपने प्रकृत विषय पर आते हैं। भारतवा-

स्त्रियों में स्वाधीनता का भाव भली भांति जागृत हो गया है और अब पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं कि जिस अधिकार का आधार केवल बल प्रयोग ही हो, वह अधिकार कितने दिनों तक ठहर सकता है । भारतवर्ष स्वतंत्र होगा और अवश्य स्वतंत्र होगा । चाहे आज और चाहे दस बीस वर्ष बाद, उसे सदा अपने अधिकार में रखने की आशा अंग्रेज साम्राज्यवादियों को छोड़ देनी चाहिए ।

यदि सच पूछिये तो अनेक विचारवान अंग्रेज पहले से ही यह भविष्यद्-वाणी कर गये हैं कि भारत में अंग्रेजों का शासन कभी स्थायी नहीं हो सकता, और यदि भारतवासी चाहें तो वह बहुत ही थोड़े परिश्रम से सदा के लिए नष्ट हो सकता है । [illegible] से बहुत दिनों पहले मेरेडिथ टाउनसेण्ड ने लिखा था— "[illegible] लोग समझते हैं कि भारत में हमारा राज्य सदा स्थायी [illegible] तथा बना रहेगा । पर मेरी समझ में यह बात ठीक नहीं है । मेरा तो यही विश्वास है कि जो साम्राज्य एक दिन में हमारे हाथ आया है, वह एक रात में हमारे हाथ से निकल सकता है [illegible] भारतवर्ष पर शासन करने के लिए हमारे यहाँ बहुत ही थोड़े से [illegible] और बहुत ही थोड़े सैनिक रहते हैं । इन थोड़े [illegible] के सहारे ही सारा भारतीय साम्राज्य चलता है और हमारे [illegible] में रहता है । इन थोड़े से अंग्रेजों को छोड़ कर यहाँ हमारा और कुछ भी नहीं है यदि थोड़े से [illegible] किसी प्रकार यहाँ से हटा दिये जाँय और थोड़े से सैनिक [illegible] कर दिये [illegible] काल की बात में हमारे शासन और [illegible] का अन्त हो जायगा और हमारा [illegible] फिर [illegible] ।

न तो अब तक उसमें कोई परिवर्तन हुआ है और न आगे हो सकता है। हमारे शासन का समर्थन करने के लिए भारतवासियों की सहमति और स्वीकृति के अतिरिक्त वहाँ और कोई बात है ही नहीं। जब तक भारतवासी चाहते हैं, तभी तक हम उनका शासन कर सकते हैं। जिस दिन वे चाहेंगे, उस दिन हमें भारत खाली कर देना पड़ेगा। भारत में न तो कोई गोरी जाति है और न वहाँ उसका कोई स्थायी निवास-स्थान है, बल्कि वहाँ कोई ऐसा गोरा भी नहीं है जो जमकर वहाँ रहना चाहता हो। न तो वहाँ गोरे नौकर चाकर है, न गोरी पुलिस और न गोरे डाकिये; और न कोई और ही गोरे कर्मचारी हैं। यदि धूसर वर्ण के लोग केवल एक सप्ताह के लिए भी हड़ताल कर दें तो बात की बात में हमारे इतने बड़े बड़े साम्राज्य का कहीं नाम भी न रह जायगा। हमारा साम्राज्य उसी तरह नष्ट हो जायगा जिस तरह बच्चों का बनाया हुआ ताशों का घर जरासा हिलने से ही गिर पड़ता है। और उस दशा में भारत के जितने गोरे शासक हैं, वे सब के सब स्वयं अपने ही घरों में क़ैदी बन जायँगे और भूखों मरने लगेंगे। न वे अपने घर से बाहर निकल सकते हैं, न खा सकते हैं और न पी सकते हैं।" टाउन्सेण्ड का उक्त कथन असहयोग के सिद्धान्त का कितना अधिक समर्थन करता है और उससे असहयोग की उपयोगिता कितनी अधिक प्रमाणित होती है, इसे पाठक स्वयं ही समझने का उद्योग करें। हाँ, शर्त यह है कि असहयोग पूर्ण और व्यापक होना चाहिए। फिर उससे भारत के निस्तार में कुछ भी विलम्ब नहीं हो सकता। तात्पर्य यह कि भारत की स्वतंत्रता बहुत से अंशों में स्वयं भारतवासियों के ही हाथ में हैं। जिस दिन वे सच्चे हृदय से

स्वतंत्र होना चाहेंगे, उस दिन संसार की कोई शक्ति उनको पराधीन न रख सकेगी।

संसार में जहाँ जहाँ गोरों का राज्य है, वहाँ वहाँ वह केवल राजनीतिक ही है। सब जगह गोरों का अधिकार केवल इसी लिए है कि वहाँ के लोग अनेक कारणों से गोरों से दबे रहते हैं और अब तक उन्होंने अपने शासकों का कभी पूरा पूरा विरोध नहीं किया है। पर शासन या अधिकार के ये आधार वास्तव में कोई चीज नहीं हैं। जिस दिन जहाँ की प्रजा गोरों का प्रत्यक्ष सामना करने लगेगी और अपने मन में इस बात का दृढ़ निश्चय कर लेगी कि अब हम गोरों के अधिकार में नहीं रहेंगे, उसी दिन और उसी समय गोरों को उनका प्रदेश विवश होकर आवश्यकता [illegible] देना पड़ेगा। यदि आज भूमंडल भर के लोग गोरों को अपने देश से निकाल देना चाहें तो गोरों को अवश्य वहाँ से निकल जाना पड़ेगा। फिर उनकी सेना सब भी लड़ना असम्भव हो [illegible] गोरों की प्रजा को बहुत लड़ना झगड़ना नहीं पड़ेगा; केवल अपने शासकों के विरुद्ध केवल शान्त और पूरा पूरा असहयोग ही करना पड़ेगा। और गोरों का शासन नष्ट करने के लिए सत्याग्रह ही यथेष्ट होगा। इसी सत्याग्रह से गोरों के शासन और साम्राज्यवाद का अन्त पूरी तरह से हो जायगा। आज कल भूमंडल भर में जितने लोग गोरों के अधिकार से निकल कर स्वतंत्र होना चाहते हैं और [illegible]

कोई अब गोरों के अधिकार में नहीं रहना चाहता; क्योंकि एक तो इनके अत्याचारों आदि से लोग बहुत पीड़ित हो रहे हैं और दूसरे वे स्वतन्त्रता का मूल्य और उपयोगिता आदि अच्छी तरह समझने लगे हैं।

एक बात और है। यदि धूसर वर्ण के लोग अपने अपने देश से गोरों को निकालने का दृढ़ निश्चय कर लेंगे और इस उद्देश्य से सत्याग्रह अथवा और कोई उपयुक्त उपाय आरम्भ कर देंगे, तो गोरे उनका अधिक विरोध भी न कर सकेंगे। अपनी प्रजा के मुकाबले गोरों को ठहरने और अपना शासन बनाये रखने का अधिक साहस भी न होगा; क्योंकि शासन नष्ट हो जाने में उनकी कोई विशेष हानि भी न होगी। उनकी राजनीतिक और आर्थिक हानि अवश्य होगी और बहुत अधिक होगी, पर ये हानियां ऐसी नहीं हैं जिनके लिए गोरे किसी प्रकार की जान जोखिम सह सकें और प्राण रहते तक अपनी प्रजा का विरोध करने के लिए डटे रहें। अपने शासन और अधिकारों को बचाने का पूरा पूरा उद्योग वे वहां करेंगे जहाँ वे जाकर स्थायी रूप से बस गये हैं और जहाँ उन्होंने अपना घर बना लिया है। जिन देशों को वे केवल सराय समझ कर लूटने के लिए ही अपने अधिकार में रखते हैं, उन देशों के लिए वे अधिक जोखिम अपने सिर नहीं लेंगे। भारतवर्ष में अंग्रेज लोग स्थायी रूप से नहीं बसते, इसलिए यहाँ से उनका निकलना बहुत ही सहज है। पर उत्तर आफ्रिका से फ्रान्सीसियों का निकलना बहुत ही कठिन है। क्योंकि वहाँ उन्होंने अपना घर बना लिया है। यदि एक बार भारत किसी प्रकार अंगरेजों के हाथ से निकल जाय, तो फिर वे दोबारा उस पर विजय प्राप्त करने

के लिए अपने लाखों सिपाहियों और करोड़ों रुपयों का नाश करने की आवश्यकता न समझेंगे। हाँ जब तक उनका शासन पूर्ण रूप से नष्ट न होगा, तब तक वे उसे बचाये रखने का उपाय पूरा पूरा प्रयत्न करेंगे। पर इस में विचारणीय बात यह है कि जब भारत [illegible] उनको निकाल बाहर करने के उद्योग में लग जायगा, तब वे उसे अपने अधिकार में रखने के प्रयत्न में कहाँ तक सफल होंगे? पर उत्तर अफ्रिका में जो देश फ्रांस के अधिकार में हैं, उन में प्रायः दस लाख गोरे बसते हैं, जिनमें से पाँच लाख से अधिक शुद्ध फ्रांसीसी हैं। उनकी रक्षा के लिए आवश्यकता पड़ने पर फ्रांस अपना सर्वस्व दे सकता है। जब तक फ्रांस के पास एक भी आदमी या एक भी पैसा रहेगा, तब तक वह अपने आदमियों को पतन होने या गुलाम बनते न देख सकेगा।

अब यदि हम यह मान लें कि भूरे वर्ण के देशों पर से गोरों का अधिकार बिल्कुल नष्ट हो जायगा अथवा बहुत कम हो जायगा, तो क्या यह सम्भव है कि भूरे वर्ण के लोग अपने अपने देश से निकल कर उसी प्रकार गोरों के निवास-स्थानों पर धावा डालना चाहेंगे जिस प्रकार पीत वर्ण के लोग अपना देश छोड़ कर गोरों के प्रदेश में प्रवेश करने के लिए उत्सुक हैं? हमारी समझ में शायद ऐसा कभी न होगा। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि पीत वर्ण वालों के लिए जैसे उनके देश में स्थान की कमी है, पर भूरे वर्ण के लोगों के पास उनके ही देशों में पर्याप्त स्थान है। [illegible] देशों में [illegible] बढ़ती हुई प्रजा के बसने के लिए [illegible] स्थान है, इसलिए उन्हें गोरों के देशों पर हमला करने की कोई

आवश्यकता नहीं है। ठीक यही दशा मेसोपोटानिया और फारस आदि देशों की है। यदि इन देशों के निवासियों को जमीन की आवश्यकता हो तो ये अपने ही देशों में अपनी बढ़ती हुई प्रजा के निर्वा के लिए बहुत अधिक नई जमीन निकाल सकते हैं।

भारत की आबादी अवश्य ही कुछ अधिक घनी है। इसी लिए यहाँ के निवासिवों को विवश होकर कनाडा और दक्षिण आफ्रिका आदि स्थानों में रोजगार ढूँढने के लिए जाना पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उन देशों के निवासी और अधिकारी अब भारतीय मजदूरों आदि से भी उतने ही भयभीत होने लगे हैं जितने चीनी मजदूरों से होते हैं। पर जब भारत स्वतंत्र हो जायगा, तब वह अपनी बढ़ती हुई प्रजा के निर्वाह का कोई न कोई उपयुक्त उपाय निकाल ही लेगा। पर हाँ धूसर और पीत वर्ण के लोग मिलकर एक हो जायँगे, तब सम्भव है कि गोरों के निवास-स्थानों पर उनका सम्मिलित और भीषण आक्रमण हो। पर यह अभी कोरा अनुमान ही अनुमान है, इसलिए इस संबंध में विशेष विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। इसकी अपेक्षा इस बात की अधिक सम्भावना है कि धूसर वर्ण के मुसलमान आफ्रिका के कृष्ण वर्ण हबशियों से मिल जायँ; क्योंकि वहाँ इस्लाम धर्म का जोरों से प्रचार हो रहा है। इस्लाम एक ऐसी कड़ी है जो धूसर और कृष्ण वर्ण के लोगों को मिला कर एक कर सकती है। पर इस प्रश्न का विचार हम अगले प्रकरण में करेंगे।

कृष्ण वर्ण

(४)

कृष्ण वर्ण के लोग मुख्यतः अफ्रिका में सहारा के [illegible] के दक्षिण में बसते हैं। सारे संसार में कृष्ण वर्ण के आदमियों की संख्या १५,००,००,००० है, जिनमें से अधिकांश [illegible] भूमि अफ्रिका में ही निवास करते हैं। अफ्रिका के [illegible] हबशियों की संख्या १२,००,००,००० के लगभग है। [illegible] हबशी अपने देश से बहुत दूर दो स्थानों में बसते हैं [illegible] आस्ट्रेलिया में और दूसरे अमेरिका में। [illegible] और आस्ट्रेलिया के बीच के द्वीप-पुंजों में बसते हैं। किसी समय इन हबशियों का विस्तार अफ्रिका से लेकर दक्षिण एशिया होते हुए प्रशान्त महासागर तक था और [illegible] में बसते हैं। एशिया की दूसरी जातियों ने इनको [illegible] [illegible] दक्षिण भारत के [illegible] [illegible] [illegible]

अमेरिका में २,५०,००,००० हबशी बसते हैं। इन हबशियों को इधर हाल में उनके गोरे विजेता गुलाम बनाकर वहाँ ले गये थे। इन हवशियों में से कुछ ने वहाँ के आदिम निवासियों के साथ और कुछने गोरों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके अनेक प्रकार की वर्ण संकर जातियों की सृष्टि कर दी है। पर अब उन वर्ण संकर जातियों का भी सम्बन्ध बहुत से अंशों में अफ्रिका के हव-शियों के साथ ही मानना पड़ेगा।

आफ्रिका में सहारा रेगिस्तान के दक्षिण में कृष्ण वर्णके लोग अनंत काल से वसते आये हैं। पहले पीत वर्ण के लोगों की भांति कृष्ण वर्ण के लोग भी सारे संसार से अलग ही रहते थे और दूसरों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखते थे। उनका देश चारों ओर से समुद्रों से घिरा हुआ था और उनमें समुद्रों को पार करने की योग्यता नही थी; इसलिए वे जंगलियों की भांति अ-पने देश में ही सीमा-बद्ध रहते थे। इधर चारसों वर्षों से गोरों ने उनके देश में प्रवेश करना आरम्भ किया है। पर इससे बहुत पहले मिश्र की ओर से धूसर वर्ण के लोगों का वहाँ बहुत अधिक प्रवेश हो गया था। पहले पूर्व की ओर से अरबों ने आफ्रिका में प्रवेश करके हवशियों पर विजय प्राप्त की थी। धूसर वर्ण अरब हवशियों पर केवल राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए; वल्कि उन्होंने उनके साथ विवाह-सम्बन्ध भी स्थापित किया था जिसके कारण अब भी आफ्रिका के अनेक प्रदेशों के निवासियों में धूसर रक्त अधिकता से पाया जाता है। पर हाल के गोरे आक्रमणकारी हवशियों के साथ कोई विशेष सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सके थे। आज से पचास वर्ष पहले तक भी वे

वहाँ साधारण व्यापारियों की भांति जाते और अपना काम करते चले आते थे। हाँ दक्षिण अफ्रिका में उन्होंने अपने उपनिवेश अवश्य स्थापित कर लिये थे। पर इसके उपरान्त शीघ्र ही एक विलक्षण और भीषण परिवर्तन हो गया। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में यूरोप वालों की शनि की दृष्टि अफ्रिका पर पड़ी और प्रायः एक पीढ़ी के अन्दर ही अन्दर यूरोपियन महाशक्तियों ने अफ्रिका को आपस में बांट लिया। हब्शी और अरब दोनों ही यूरोपियनों के अधिकार में आ गये। केवल लाइबेरिया और अबीसीनिया ही स्वतंत्र बच रहे। उधर गोरों के उपनिवेश और बस्तियाँ खूब बढ़ने लगीं। मध्य अफ्रिका में तो बहुत अधिक गर्मी पड़ती थी, इसलिए गोरे वहां बस ही नहीं सकते थे, पर उत्तर और दक्षिण अफ्रिका में, जहाँ का जलवायु गोरों के [illegible] अनुकूल और उपयुक्त था, गोरों के बहुत बड़े उपनिवेश स्थापित हो गये। आज कल एलजीरिया और ट्यूनिस में [illegible] करोड़ दस लाख और दक्षिण अफ्रिका में प्रायः पन्द्रह लाख गोरे बसते हैं। एशिया में तो गोरे अपनी जड़ नहीं जमा सके हैं, पर अफ्रिका के अनेक भागों में उन्होंने पक्की तरह अपनी जड़ जमा ली है।

सम्पत्ति बहुत अधिक है। वहां से यूरोप को बहुत अधिक खाद्य पदार्थ तथा कच्चा माल मिल सकता और मिलता है। अब यह बात स्वतःसिद्ध है कि यदि मध्य-आफ्रिका में गोरों का प्रभुत्व बना रह सकता है, तो वह केवल हवशियों के कारण ही बना रह सकता है। अर्थात् गोरे मध्य आफ्रिका में बस तो सकते ही नहीं, अतः उनके प्रभुत्व का बना रहना अथवा नष्ट हो जाना स्वयं हवशियों की इच्छा और योग्यता आदि पर ही निर्भर करता है। इस प्रश्न की मीमांसा करने के लिए हमें पहले यह देखना चाहिए कि स्वयं हवशियों की प्रवृत्ति और भाव कैसे हैं और धूसर वर्ण के लोगों के साथ उनका कैसा सम्बंध है।

पहली बात तो यह है कि हवशी लोग केवल गोरों से ही नहीं बल्कि धूसर और पीत वर्ण के लोगों से भी अनेक बातों में बहुत ही भिन्न हैं। संसार के और सभी वर्णों के लोगों से हवशी लोग बिलकुल भिन्न हैं। उनमें सभ्यता की अपेक्षा बर्बरता की मात्रा ही बहुत अधिक है। यही कारण है कि सभी बातों में उनमें बहुत जल्द और बहुत अधिक आवेश आ जाता है। दूसरी बात यह है इसी बर्बरता के कारण उनकी वंश-वृद्धि भी बहुत शीघ्रता से और बहुत अधिक होती है। जितने थोड़े समय में जितनी अधिक वंश-वृद्धि हवशियों की हो सकती है, उतने थोड़े समय में उतना अधिक वृद्धि संसार के और किसी वर्ण की नहीं होती। उनकी यह बर्बरता ही उन्हें अनेक प्रकार के कष्ट और विपत्तियाँ आदि सहने में भी समर्थ बनाती है। नहीं तो गुलामी की दशा में बहुत दिनों तक रहकर उन्होंने जितने अधिक कष्ट उठाये हैं, यदि उतने अधिक कष्ट किसी और वर्ण के लोगों को उठाने पड़ते, तो शायद

आज संसार में उनका कहीं पता भी न लगता। सब से अधिक बात यह है कि जहाँ एक बार किसी दूसरे वंश में कृष्ण वर्ण का रक्त प्रवेश कर जाता है, तब फिर वह वहाँ से निकलना नहीं जानता। अर्थात् एक बार कृष्ण वर्ण के लोग जिस वंश के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं, उस वंश को वे सदा के लिए अपने अनुकूल कर लेते हैं। कृष्ण वर्ण का रक्त एक बार प्रविष्ट हो जाने पर फिर निकाले नहीं निकलता।

आफ्रिका का अधिकांश बहुत से अंशों में ह
वृद्धि पर ही निर्भर करता है। बहुत काल तक
वन जंगलियों की तरह रहते थे। उनकी सं
अधिक थी ही, पर प्रकृति ने कुछ ऐसी व्यवस्थ
से उस वृद्धि में अनेक बाधाएं आ पड़ती थीं, व
भी आपस में नष्ट हो जाते थे। इसकी जितनी
हुई थी, इतनी ही उनमें मृत्यु-संख्या भी अधिक
हाल से हब्शी लोग बिलकुल अयोग्य थे; क्योंकि

उनकी कोई विशेष हानि नहीं हुई। पर उधर गोरों के शासन के कारण हबशियों का आपस का लड़ना झगड़ना भी और नर बलि भी प्रायः नहीं के समान हो गई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हबशियों की संख्या दिन दूनी और रात चौगुनी होती जाती है। दक्षिण आफ्रिका के कुछ स्थानों में तो इधर पचास साठ वर्ष के अन्दर ही उनकी संख्या दस गुनी तक बढ़ गई है। अतः यह बात एक प्रकार से बिलकुल निश्चित ही है कि थोड़े ही समय में हबशियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी।

अब प्रश्न यह है कि जब हबशियों की संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी, तब गोरों के प्रति उनके भाव कैसे होंगे? इस प्रश्न का अभी तक कोई ठीक ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरे शासकों के प्रति उनके भाव पीत और धूसर वर्ण वालों के भावों से कुछ न कुछ भिन्न अवश्य होंगे। इसके कई कारण हैं। पहली बात तो यह है कि हबशियों का न तो कोई पुराना महत्वपूर्ण इतिहास है और न कोई उज्ज्वल भूतकाल, जिसका उनको गर्व हो सके और जिसके आधार पर अधिक उच्चाकांक्षी हो सकें। हाँ, संसार की वर्तमान अवस्था को देखते हुए उनमें जो कुछ उच्चाकांक्षा उत्पन्न हो जाय। उनकी निज का कोई सभ्यता कभी नहीं थी। एशिया वालों के भाव, विचार और अनुभव आदि ऐसे हैं जिनके कारण वे गोरों के बहुत बड़े विरोधी हो सकते हैं, पर हबशियों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इस समय गोरे चाहे कितने ही अधिक उन्नत और सभ्य न बन जायँ, पर पीत और धूसर वर्ण के लोग भी किसी समय उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर अवश्य थे। संसार की सभ्यता

उन्होंने अरबों और हबशियों दोनों को अपने अधिकार में कर लिया। अब देखना यह है कि क्या अरब वाले हबशियों के साथ मिल कर गोरों को आफ्रिका से निकाल सकते हैं? इस समय धूसर जगत् में जो क्रांति हो रही है, उसे देखते हुए अनुमान यही होता है कि अरब वाले हबशियों को अपनी ओर मिला लेंगे और गोरों को वहाँ से हटा देने का उद्योग करेंगे। उनका यह उद्योग तीन मुख्य बातों पर निर्भर करता है। एक तो यह कि आफ्रिका में धूसर वर्ण वालों का आंतरिक बल कितना है। दूसरे यह कि इस बात की कितनी सम्भावना है कि हबशी लोग गोरों से बिगड़ खड़े होंगे? और तीसरे यह कि जिस समय अरब वाले और हबशी मिल कर सिर उठावेंगे उस समय गोरे उन दोनों का कहाँ तक विरोध कर सकेंगे?

आफ्रिका में धूसर वर्ण वालों का अड्डा सहारा के रेगिस्तान के उत्तर में है। मिश्र से मरक्को तक के हबशियों को अरबों ने एक प्रकार से अपने में मिला लिया है और उनको मुसलमान बना लिया है। आज से प्रायः बारह सौ वर्ष पहले अरबों ने हबशियों पर विजय प्राप्त की थी। तब से अब तक हबशियों में अरबों के रक्त का बहुत अधिक सम्मिश्रण हो चुका है। मिश्र, ट्रिपोली और सूडान तो बिलकुल मुसलमान हो चुके हैं और धूसर वर्ण के साथ एकजीव बन गये हैं। पर पश्चिम में जो बर्बर रहते हैं, वे कदाचित् दक्षिण यूरोप के गोरों की सन्तान हैं अथवा उनसे कुछ न कुछ सम्बन्ध रखते हैं। वे लोग प्रायः एक हजार वर्षों तक अरबों की अधीनता में रह चुके हैं। लेकिन फिर भी उनकी सब बातें अरबों से बिलकुल भिन्न हैं। उन्होंने अपनी भाषा

इस समय आफ्रिका में इस्लाम धर्म का प्रचार भी खूब जोरों के साथ हो रहा है। इस प्रचार को देख कर यूरोपियन भयभीत हो रहे हैं। सर चार्ल्स ईलियट ने एक अवसर पर कहा था कि यह इस्लाम धर्म ही आफ्रिका के हबशियों को ईसाइयों का घोर विरोधी बना सकता है और उनमें ऐसी एकता उत्पन्न कर सकता है, जो और किसी उपाय से नहीं हो सकती। प्रायः बीस वर्ष पहले टी० आर० थ्रेल पाल ने एक अवसर पर कहा था कि आफ्रिका के भीतरी भागों में इस्लाम धर्म का बहुत ही आश्चर्यजनक रूप से प्रचार हो रहा है। काफिरों के धर्म को तो वह पीसे डालता है। उसके मुकाबले में ईसाई-धर्म के प्रचार का विचार कोरी कल्पना ही है। आफ्रिका में भूमध्य रेखा के उत्तर में वहाँ की जंगली जातियों में युद्ध-प्रिय इस्लाम धर्म का जो बहुत ही शीघ्रता से प्रचार हो रहा है, वह बहुत ही भयंकर है और आगे चल कर आफ्रिका में जातीय प्रभुत्व के लिए जो युद्ध होगा, वह इसी के आधार पर होगा। आफ्रिका की कुछ थोड़ीसी जातियों को छोड़ कर बाकी सभी जातियाँ बहुत लड़ाकी हैं। वे तो केवल बल के सिद्धान्त को जानती हैं। उन पर विजय प्राप्त की गई थी। उसके बदले में वे भी विजय प्राप्त करेंगी। उनके लिए शांति और उच्च आदर्शों से पूर्ण ईसाई धर्म की अपेक्षा भयंकर और युद्धप्रिय इस्लाम धर्म कहीं अधिक आकर्षक है। इसीलिए मध्य आफ्रिका में इस्लाम धर्म का खूब प्रचार हो रहा है और यह निश्चय है कि शीघ्र ही वह जेम्वेजी के दक्षिण तक अच्छी तरह फैल जायगा।

दक्षिण की ओर इस्लाम धर्म का जिस आश्चर्यजनक रूप से प्रचार हो रहा है, उसका अनुमान हाल की एक घटना से हो

ईसाई हो गये हैं। पूर्व मध्य-आफ्रिका में भी ईसाई धर्म का थोड़ा बहुत प्रचार हुआ है। युगाण्डा तथा पश्चिमी आफ्रिकन गायना में ईसाईयों की कमी नहीं है। आगे चलकर एक न एक दिन आफ्रिका के सभी आदिम निवासी या तो ईसाई और या मुसलमान हो जाँयगे, काफिर नहीं रहेंगे। जो ईसाई हो जायँगे, वे तो गोरों का दासत्व स्वीकृत किये रहेंगे और जो मुसलमान हो जायँगे, वे हब-शियों की युद्धप्रियता से लाभ उठाकर आफ्रिका से गोरों को निकाल देने और उस महादेश को अपना बनाने का उद्योग करेंगे।

आफ्रिका के जिन स्थानों में इस्लाम धर्म का प्रचार नहीं हुआ है, वहाँ के निवासी भी प्रायः गोरों के प्रभुत्व के विरोधी ही हैं। दक्षिण आफ्रिका में गोरों के विरोध का भाव बहुत अधिक और मध्य एशिया में उससे कुछ कम है। आफ्रिका के हबशी चाहे जो धर्म ग्रहण कर लें, पर यह निश्चित है कि गोरों ने उनको जिस दासता में जकड़ रखा है, उसे वे कभी पसन्द नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त हबशियों में जातीय एकता का भाव भी दिन पर दिन बढ़ता जाता है। यही कारण है कि यदि संसार के किसी भाग में और कहीं कभी गोरों का कोई पराजय होता है, तो उसका सारा समाचार सारे आफ्रिका में आप से आप फैल जाता है और उसे सुनकर वे मन ही मन बहुत प्रसन्न होते हैं। रूस-जापान-युद्ध में जब रूस का पराजय हुआ था, तब आफ्रिका के हबशियों ने खूब खुशी मनाई थी।

इधर दस बारह वर्षों में गोरों के विरोध का यह भाव दक्षिण आफ्रिका में बहुत बढ़ गया है। दक्षिण आफ्रिकन यूनियन में गोरों

दी कि दक्षिण आफ्रिका में अमेरिकन हवशी ईसाई प्रवेश न कर सकें। यद्यपि उस समय वह आन्दोलन कानून की सहायता से रोक दिया गया, तथापि वह गुप्त रूप से बढ़ता रहा और साथ ही अनेक दूसरे स्थानों में भी प्रकट हो गया।

अमेरिकन हवशी ईसाइयों के इस सम्प्रदाय का नाम इथोपिधियन सम्प्रदाय है। १९१५ में न्यासालैण्ड में इस सम्प्रदाय का आन्दोलन एक विलक्षण और भीषण रूप में प्रकट हुआ। उसका नेता जान चिलेम्वे नामक एक इथोपियन धर्म-प्रचारक था जिसने अमेरिका के संयुक्त राज्यों में शिक्षा पाई थी। वह गोरों का घोर विरोधी था और कहा करता था कि आफ्रिका हवशियों का देश है, गोरे यहाँ जबरदस्ती आ घुसे हैं, हवशियों को चाहिए कि वे उनकी इतनी हत्याएँ करें कि वे घबरा जायँ और विवश होकर आफ्रिका खाली कर दें। उसने इस बात का भी उद्योग किया था कि सारे न्यासालैण्ड में एक साथ ही गोरों के विरुद्ध एक भीषण विद्रोह खड़ा हो जिसमें गोरों की खूब हत्या हो और हवशी लोग गोरों की स्त्रियों को उठा ले जायँ। जनवरी १९१५ में यह विद्रोह खड़ा हुआ था। गोरों के अनेक निवास-स्थान लूट लिये गये और अनेक गोरे मार डाले गये। हवशी लोग गोरों के सिर काट काट कर चिलेम्वे के गिरजाघर में ले जाते थे और वहाँ अपनी विजय पर ईश्वर को नियमानुसार धन्यवाद दिया करते थे। पर उन हवशियों के पास यथेष्ट हथियार आदि नहीं थे, इसलिए गोरों ने उनको शीघ्र ही परास्त करके दबा दिया। अंत में चिलेम्वे का पीछा किया गया और वह मार डाला गया। यद्यपि यह कोई बहुत बड़ी या महत्वपूर्ण घटना नहीं थी, तथापि इससे इतना पता

अवश्य लगता है कि गोरों के प्रति हब्शियों के आन्तरिक भाव कैसे हैं।

हब्शियों में जातीय एकता का भाव भी जोरों से बढ़ रहा है। १९१९ के आरम्भ में पेरिस में आफ्रिका के हवशियों की एक महासभा का उद्देश्य यह था कि समस्त आफ्रिका के हवशियों में एकता स्थापित की जाय। उस महासभा में सारे संसार के हव-शियों के प्रतिनिधि जाति-हित के विषयों पर विचार करने के लिए एकत्र हुए थे। उसमें अमेरिका और आफ्रिका के प्रतिनिधि तो थे ही, साथ ही न्यू गायना से भी एक प्रतिनिधि आया था, जो हव-शियों की आस्ट्रेलेशियन शाखा का प्रतिनिधि था। यद्यपि उस कांग्रेस में उपस्थिति बहुत अधिक नहीं थी, तथापि हवशियों के जातीय भावों का पता देने के लिए वही पर्याप्त थी। उस कांग्रेस में भावी अधिवेशनों की भी योजना की गई थी।

इस समय आफ्रिका की समस्या का संक्षिप्त रूप यह है कि वहाँ हवशियों की संख्या दिन पर दिन भीषण रूप से बढ़ती जाती है और वे हवशी गोरों के प्रभुत्व से बहुत असंतुष्ट हैं। इस्लाम धर्म के प्रचार के कारण उनमें और भी अधिक उत्तेजना फैलती जाती है। उधर अमेरिका के हवशी वहाँ पहुँच कर अपने भाइयों को गोरों का और भी अधिक विरोधी बनाते जाते हैं।

इस प्रकार एशिया और आफ्रिका की अवस्था में कई बातों में थोड़ी बहुत समानता है। पर कुछ बातों में दोनों की अव-स्थाओं में कुछ अंतर भी है। एशिया में गोरों का अस्तित्व केवल राजनीतिक अधिकार के कारण है। यहाँ के पीत और धूसर वर्ण

के लोग प्राचीन काल में बहुत अधिक सभ्य थे और आजकल वे अपनी उन्नति में लगे हुए हैं और अपनी संघटन-शक्ति का यथेष्ट परिचय दे रहे हैं। एशिया वाले गोरों की केवल नकल ही नहीं करते। वे गोरों के विचारों, आदर्शों और उपायों आदि को अपने आवश्यकतानुसार तोड़ मरोड़ कर ग्रहण कर रहे हैं और यह दिखला रहे हैं कि इसमें भी गोरों के समान ही सब काम करने की स्वाभाविक योग्यता है। प्राचीन काल में एशियावालों ने अनेक बार गिर कर फिर अपनी पूरी उन्नति की है, इसलिए हमें पूर्ण आशा है कि इस बार भी वे अपनी इस गिरी हुई दशा से उठकर संसार को चकित कर देंगे।

पर आफ्रिका वालों के सम्बन्ध में यह बात नहीं हैं। आफ्रिका वालों ने आज तक कभी यह प्रमाणित नहीं किया कि उनमें आधुनिक ढंग पर अपना सङ्गठन करने का भाव या शक्ति भी है। उन्होंने कभी अपनी निज की कोई सभ्यता नहीं खड़ी की। उनकी इधर उधर की कुछ शाखाओं ने, उदाहरणार्थ अमेरिका वाली शाखा ने, जो उन्नति करके दिखलाई भी है, यह उनकी निज की नहीं है, बल्कि अमेरिकन शिक्षा और परिस्थिति आदि के दबाव के कारण है। जब तक उन पर बाहरी प्रभाव पड़ता रहता है, तब तक तो वे बराबर थोड़ी बहुत उन्नति करते रहते हैं। पर जब उन पर से वह दबाव उठ जाता है, तब वे फिर अपनी पूर्व दशा को पहुँच जाते हैं। हेटा और लाइबेरिया के हबशियों में यही बात हुई है। जब वे अपने आप पर छोड़ दिये गये, तब उन्होंने फिर अपने पूर्वजों का ही रंग ढंग पकड़ लिया। हबशी लोग नक्काल तो खूब होते हैं और वे बड़े शौक से दूसरों की नकल करते हैं, पर

केवल नकल में ही उनकी इतिकर्तव्यता हो जाती है। उस नकल से आगे वे अब तक नहीं बढ़ सके हैं। वे दूसरों की बातें ज्यों की त्यों ग्रहण कर लेते हैं, अपनी आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन या परिवर्द्धन आदि नहीं कर सकते। हवशियों का अब तक का सारा इतिहास इसी सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

इस संबंध में मेरेडिथ टाउंसेण्ड का कथन है कि आज तक कृष्ण वर्ण की किसी जाति ने अपनी सभ्यता स्थापित करने की योग्यता नहीं दिखलाई। उन्होंने आज तक अपने देश से बाहर निकल कर कभी दूसरे देशों पर कोई विजय नहीं प्राप्त की और न दूसरे वर्णों के लोगों पर अपना किसी प्रकार का कोई प्रभाव ही डाला है। न तो उन्होंने आज तक पत्थर के मकानों वाला कोई नगर बनाया, न कोई जहाज़ बनाया, न किसी साहित्य की सृष्टि की और न कोई धर्म या सम्प्रदाय निकाला। कहा जाता है कि हवशी लोग संसार के सब से बड़े महादेश में गढ़े हुए हैं और मानव जाति के लिए मानों नष्ट हो चुके हैं। पर यह बात ठीक नहीं है। वे यदि चाहते तो सारे संसार में फैल सकते थे; क्योंकि वे सदा नील नदी के मुहाने पर ही थे जहाँ से भूमध्य सागर तक पहुँच सकते थे। इसके अतिरिक्त पश्चिम और पूर्व में भी उनको समुद्र तक पहुँचने का सुभीता था। एशिया की अपेक्षा आफ्रिका कदाचित् अधिक उर्वर है और वहाँ प्राकृतिक सम्पत्ति तो अवश्य ही एशिया की अपेक्षा अधिक है। वहाँ बड़ी बड़ी नदियाँ भी मौजूद हैं जिनमें नावें आदि अच्छी तरह चल सकती हैं आफ्रिका के हवशी बहुत हृष्ट पुष्ट और स्वस्थ होते हैं और संसार की सब से कड़ी गरमी सहते हैं। उनकी संख्या भी इतनी

अधिक है कि वे जो चाहें सो कर सकते हैं। यदि वे चाहते तो जंगलों को काट कर बड़ी बड़ी सड़कें और नगर तैयार कर सकते थे। पर वे चुपचाप बैठे रहे और उन्होंने आज तक कुछ भी नहीं किया। यदि यह कहा जाय कि वे बाहरी संसार से बिलकुल अलग और अकेले पड़ गये थे, तो वह बात भी ठीक नहीं है। उनकी अपेक्षा कहीं अधिक अलग और अकेले पेरू के निवासी पड़े थे। समरकंद के तातार भी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक सीमा बद्ध और बंद थे। पर वे भी एक बार आपस के झगड़ों को छोड़ कर उठ खड़े हुए थे और उन्होंने उत्तर में ओखोट्स्क के सागर से बाल्टिक तक और दक्षिण में नर्मदा तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। आस्ट्रेलिया के जंगलियों की अपेक्षा हब्शियों ने स्वयं ही अधिक उन्नति की थी। उन्होंने आग का उपयोग सीखा, इस बात को जान लिया कि अनाज बोने से अनाज उत्पन्न होता है छाया में रहने का महत्व जाना, तीर कमान और नाव का व्यवहार करना सीखा और कपड़े पहनना भी सीखा। पर इतना सब कुछ करके वे रुक गये। इससे आगे न बढ़ सके। अब अरब लोग वहाँ पहुँचे, तब उन्होंने उनका हाथ पकड़ कर उनको एक कदम और आगे बढ़ाया।

हब्शियों का अब तक का इतिहास हमें यही बतलाता है कि वे अपने पैरों पर आप ही खड़े नहीं हो सकते। उनको दूसरों के सहारे की आवश्यकता होती है। सम्भव है कि आगे चल कर वे स्वयं भी कुछ करने के योग्य हो जायँ, पर आज तक उन्होंने स्वयं कोई काम नहीं किया। कुछ लोगों का अनुमान है कि उनकी प्रकृति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, पर हम इस बात को

मानने के लिए तैयार नहीं हैं। हब्शियों की संख्या भी बराबर बढ़ती जाती है और गोरों के प्रति उनके असंतोष में भी दिन पर दिन वृद्धि होती जाती है। वे आफ्रिका को अपने अधिकार में करेंगे। सम्भव है कि इस काम में पहले पहल उनको धूसर वर्ण से भी कुछ सहायता मिले, पर आगे चल कर वे भी स्वतंत्र ही होंगे। जो हो, गोरों के हाथ से आफ्रिका भी निकल ही जायगा। इसे चाहे गोरे अपना दुर्भाग्य समझें और चाहे सौभाग्य। धूसर वर्ण के लोग इस समय गोरों या उनके अधिकारों पर कोई आक्रमण नहीं करना चाहते। वे केवल दासत्व से निकलना और अपने अधिकारों की रक्षा करना चाहते हैं। पर इस्लाम धर्म ही ऐसा है जो अपने अनुयायियों को युद्ध की ओर प्रवृत्त करता है। और अरब वाले भी प्रसिद्ध योद्धा हैं। यदि आफ्रिका में इस्लाम धर्म का पूरा पूरा प्रचार हो जायगा तो मुसलमानों के हाथ में एक ऐसी तलवार आ जायगी जिससे वे आवश्यकता पड़ने पर अपने अत्याचारियों से अच्छी तरह बदला ले सकेंगे। वे अत्याचारी इस दल से घबराते तो बहुत हैं, पर कठिनता यह है कि वे फिर भी अपने अत्याचार कम नहीं करते और सीधे रास्ते पर नहीं आते। वे अंधे होकर पाप भी करते हैं और मन ही मन पाप के फल से भी डरते हैं। पर फिर भी पाप से हाथ नहीं खींचते। बेचारे क्या करें, वे जिस सभ्यता और जिस शिक्षा के फेर में पड़े हैं, वह उन्हें इसी मार्ग पर चलने के लिए विवश करती है और उनकी आँखें खुलने ही नहीं देती।

आफ्रिका में खाद्य पदार्थ भी खूब अधिकता से होते हैं और दूसरे कच्चे माल भी यथेष्ट मान में उत्पन्न होते हैं। बस इन्हीं के

लालच से गोरों ने उत्तर और दक्षिण में अच्छी तरह अपना अड्डा
जमाया है। वे वहीं बस गये हैं, और उन देशों को अपना बना
बैठे हैं। उन प्रदेशों को उपयोगी बनाने में भी उन्होंने बहुत कुछ
परिश्रम किया है और इसीलिए वे अब उन प्रदेशों पर अपना
अधिकार जताते हैं। पर वे यह सोचने की आवश्यकता नहीं
समझते कि आरम्भ में ही उनको इस बात का कोई अधिकार नहीं
था कि वे दूसरों के देश में जाकर वहाँ के निवासियों को जीत
कर अपने अधीन करते और उनके देश की सम्पत्ति पर अधिकार
जमाते। उन्होंने उन देशों में बहुत कुछ सुधार और उन्नति अवश्य
की है, पर जब उन देशों के निवासी संसार की सारी व्यवस्था
अच्छी तरह समझ लेंगे, सयाने हो जायँगे, तब वे उनको वहाँ से
निकालने का उद्योग करेंगे। उस समय दोनों में खूब झगड़ा होगा।
वे गोरे कहेंगे कि हम ने इन देशों को बहुत परिश्रम करके उपयोगी
बनाया है, और हबशी कहेंगे कि तुम इन देशों को उपयोगी बनाने
वाले होते कौन हो? तुम अपने घर का रास्ता लो। उन देशों में
अङ्गरेजों और फ्रांसीसियों की ही प्रधानता है और उन्हीं दोनों से
हबशियों की मुठभेड़ होगी। धूसर वर्ण का आफ्रिका पर बहुत
कुछ प्रभाव अभी तक केवल उत्तर-पूर्व में ही है। धूसर वर्ण के
लोग वहाँ स्वेज की नहर के मार्ग से ही पहुँच सकते हैं और यदि
उनसे गोरों को बहुत अधिक खटका होगा तो वे उसका कुछ
उपाय भी करेंगे ही। कुछ गोरे अभी से उसका उपाय सोच रहे
हैं। वे कहते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर हमें स्वेज नहर वाला
मार्ग बंद कर देना चाहिए और इस प्रकार आफ्रिका में धूसर वर्ण
वालों का प्रवेश रोक देना चाहिए। और तब आफ्रिका में रहने

वाले धूसर वर्ण के लोगों को दबा कर हबशियों को और उनके देश को अपने अधिकार में कर लेना चाहिए। पर वे स्वार्थ के कारण यह नहीं सोच सकते कि यह औषध भी एक प्रकार के रोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस उपाय से सम्भव है कि वे और कुछ समय तक आफ्रिका पर अधिकार बनाये रखें, पर सदा के लिए किसी देश को अपने अधिकार में रखने का विचार शेखचिल्ली के विचारों से कम नहीं है। ऐसे शेखचिल्ली यह भी समझते हैं कि कम से कम आफ्रिका के सम्बन्ध में हमें कृष्ण अथवा धूसर वर्ण के लोगों से कुछ भी भयभीत न होना चाहिए और वहाँ अपना बल बढ़ाने का उद्योग करना चाहिए। वे बेचारे पुराने इतिहासों से तो कुछ शिक्षा ग्रहण ही नहीं कर सकते; क्योंकि स्वार्थ ने उनकी आँखों पर गहरा परदा डाल रक्खा है। पर हमें आशा करनी चाहिए कि समय अवश्य उनकी आँखें खोल देगा कि न तो कोई सदा बलवान् और शासक बना रह सकता है, और न सदा दूसरों को मूर्ख बना कर उनके धन आदि का अपहरण ही कर सकता है।

रक्त वर्ण

(५)

रक्त वर्ण के लोग आज कल अमेरिका में रायो ग्रेण्ड से मकर रेखा तक रहते हैं। ये लोग अमेरिण्डियन या अमेरिकन इण्डियन कहलाते हैं। जिस समय कोलम्बस ने भारत को ढूँढते ढूँढते अमेरिका का पता लगाया था और उसी को धोखे में भारत समझा था, उस समय ये रक्त वर्ण के लोग सारे उत्तर और दक्षिण अमेरिका में भरे हुए थे। यद्यपि ये लोग भी कृष्ण वर्ण के लोगों की भाँति सारे संसार से अलग रहते थे, तथापि वे पीत और धूसर वर्ण के लोगों के समान ही अथवा उनसे कुछ ही कम सभ्य थे। पर गोरों ने वहाँ पहुंच कर उनका इतना अधिक और इतने भीषण रूप से नाश किया कि अब उनकी बहुत ही थोड़ी संख्या बच रही है। गोरों ने उनका शिकार खेल खेल कर और उनको गोलियां मार मार कर उनका बहुत बड़ा अंश बहुत ही बुरी तरह नष्ट किया। जितने भीषण उपायों से और जितने स्वार्थान्ध होकर गोरों ने इन रक्त वर्ण वालों का नाश किया, यदि उसका पूरा पूरा वर्णन किया जाय तो एक स्वतंत्र ग्रंथ तैयार हो जाय। और साथ ही लोगों को यह भी पता लग जाय कि आरंभ

में जिन गोरों ने अमेरिका पर अधिकार प्राप्त किया था, वे वास्तव में मनुष्य नहीं, वलिक पूरे पूरे राक्षस थे। इन गोरों ने रक्त वर्ण वालों का नाश कर अन्त में उत्तर अमेरिका का वह सारा प्रदेश अपने हाथ में कर लिया जो आज कल कनाडा और संयुक्त राज्य कहलाता है। दक्षिण अमेरिका का दक्षिणी भाग भी इन गोरों ने इन्हीं उपायों से अपने लिए खाली कर लिया और अब रक्त वर्ण के लोग केवल ब्रेजिल और पेरू आदि देशों में ही, और वह भी बहुत ही थोड़ी संख्या में पाये जाते हैं। अब उत्तर और दक्षिण अमेरिका के बाकी समस्त प्रदेश इन गोरों की मानों पैतृक सम्पत्ति वन गये हैं। गोरों ने अनेक देशों के निवासियों को जीतकर अपने अधिकार में तो अवश्य कर लिया है, पर यदि उन्होंने कहीं किसी जाति का देश छीनने के लिए जंगली जानवरों की तरह किसी सभ्य जाति का शिकार खेला है, तो वह यही अमेरिका में। यों तो गोरी जाति पर आधुनिक इतिहास में जितने अधिक कलङ्क हैं, उतने शायद सारे संसार की अन्य जातियों पर सब मिलाकर भी उतने अधिक कलंक न होंगे, पर रक्त वर्ण के लोगों के नाश के सम्बन्ध में उन पर जो कलंक है, उसके सामने उन सब कलंकों की भी कोई गिनती नहीं है! बहुत ही अच्छा होता, यदि इस सम्बन्ध का कोई विस्तृत और निष्पक्ष इतिहास लिखा जाता; क्योंकि उससे लोगों को इस बात का पता तो लग जाता कि जो गोरी जाति आजकल अपने परम सभ्य होने का इतना अधिक अभिमान करती है, उसकी सभ्यता की नींव कैसी कैसी घृणित और निन्दनीय करतूतों से रखी गई थी! अस्तु।

दक्षिण अमेरिका के मध्य के कुछ प्रदेशों में अब भी रक्त वर्ण

के थोड़े से लोग इन गोरों के लिए भार-स्वरूप बच ही गये हैं। उन्हें शायद इन लोगों ने कृपाकर चिड़ियाखानों में नहीं तो कम से कम प्रदर्शिनियों आदि में रखने के लिए ही बचा रखा है। लेकिन फिर भी शुद्ध रक्त वर्ण के लोगों की बहुत ही कमी है। उनमें अधिकांश को या तो इन गोरों ने स्वयं ही वर्णसंकर बना डाला है और या उनमें अपने गुलाम हबशियों का रक्त मिलवा दिया है। इस समय शुद्ध और वर्ण संकर दोनों प्रकार के अमेरिकन इण्डियनों की संख्या ४,००,००,००० के लगभग है। इसके अतिरिक्त इनके प्रदेशों में लाखों करोड़ों हबशी आदि भी रहते हैं। पर गोरों की आबादी औसत १० प्रति सैंकड़े से अधिक नहीं है। पाठकों को इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि लेखे में हमने वेस्ट इण्डीज टापुओं अथवा दक्षिण अमेरिका के दक्षिणी प्रदेशों को नहीं लिया है। वेस्ट इण्डीज में तो रक्त वर्ण वालों का प्रायः पूरा पूरा नाश ही हो चुका है और वहां हबशियों की बस्ती बस गई है और दक्षिण अमेरिका को, और विशेषतः वहाँ के आर्जेण्टाइन और युरुग्वे प्रदेशों को इन गोरों ने अपनी बपौती बना लिया है। वहाँ हबशी तो बिलकुल नहीं हैं, पर रक्त वर्ण के बहुत ही थोड़े से लोग हैं। इधर कुछ दिनों से बेचारे रक्त वर्ण वालों की जान बचने लगी है और धीरे धीरे उनकी संख्या में कुछ वृद्धि होने लगी है। यह उस प्रदेश की बात है जिसे आज कल ये गोरे लैटिन अमेरिका कहने लगे हैं और जो दक्षिण अमेरिका के रायो ग्रैण्ड से उसके दक्षिणी अन्तरीप हार्न तक विस्तृत है।

लेटिन अमेरिका का विकास स्पेन वालों की विजय से आरम्भ हुआ था। यहाँ विजय शब्द जरा ध्यान रखने योग्य है; क्योंकि

इसका प्रयोग वास्तव में शिकार के लिए किया गया है। जिस प्रकार जंगली पशुओं का शिकार करके उन पर विजय प्राप्त की जाती है, उसी प्रकार यहाँ रक्त वर्ण वालों का शिकार करके उन पर भी विजय प्राप्त की गई थी। पहले अमेरिका के संयुक्त राज्यों में गोरों ने अपने उपनिवेश स्थापित किये थे और वहाँ वे अपने बाल-बच्चों को ले जाकर रहे थे। वहाँ के रक्त वर्णवालों को, जिन की उच्च कोटि की सभ्यता के आज कल बड़े बड़े गीत गाये जाते हैं और जिनकी प्राचीन सभ्यता आदि की खोज करने के लिए करोड़ों रुपये वार्षिक का व्यय किया जाता है, इन गोरों ने पहले स्वार्थवश बिलकुल जंगली समझ लिया था, और अनेक प्रकार के अत्याचारपूर्ण कृत्यों से उनका नाश आरम्भ कर दिया था। जहाँ रक्त वर्ण के लोग मिलते थे, वहीं वे या तो गोलियों से मार डाले जाते थे और या अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि बाल-बच्चे भी छोड़ कर जंगलों में भागने के लिए विवश किये जाते थे। ये रक्त वर्ण वाले थे तो परम सभ्य, पर इनका एक मात्र-दोष यही था कि ये गोली बारूद का आविष्कार नहीं कर सके थे और न परम सभ्य गोरे विजेताओं की तरह छल कपट और स्वार्थ-साधन करना जानते थे। इनके यहाँ उस समय पूर्ण सत्य-युग व्याप रहा था, इसी लिए ये कलियुगी राक्षसों का मुकाबला करने में असमर्थ थे। इनका यह अपराध कुछ कम नहीं था, इस लिए गोरे इनका नाश करने के लिए विवश हुए थे। चुटकी बजाते हुए इन थोड़े से गोरों ने रक्त वर्णवालों के देशों में पहुंच कर उन के बड़े बड़े राज्य और साम्राज्य नष्ट कर दिये, उनके पुरुषों का नाश कर दिया और उनकी स्त्रियों तथा सम्पत्ति को अपने अधि-

कार में कर लिया। यही इन गोरों की सभ्यता का बाहरी संसार में बीजारोपण था। हजार दो हजार दानवों ने लाखों करोड़ों देवताओं का जितने सहज में और जितनी बुरी तरह नाश किया, यदि उनका पूरा पूरा वर्णन किया जाय तो सहृदय मनुष्य का खून खौलने लगे और वह उन दानवों की सन्तान का मुँह देखने में भी पाप समझे। जिस समय मेक्सिको को फतह करने के लिए स्पेनी महावीर कार्टेज चला था, उस समय उसके केवल ६०० साधारण सैनिक थे और भीम पिंजारों ने तो केवल ३१० साथियों को ले कर ही पेरू के लिए अपनी विजय यात्रा आरम्भ की थी। बस इसीसे समझ लीजिए कि ये गोरे कितने वीर थे और बेचारे रक्त वर्ण वाले कितने कायर और नामर्द थे! इन महावीरों को इतने थोड़े से सैनिकों की सहायता से गोले गोलियाँ चलाकर इतने अधिक मनुष्यों की हत्या करते लज्जा भी न आई। लज्जा कैसे आती वहाँ तो जर, जमीन और जन इन तीनों की प्राप्ति का प्रश्न था। अपने पूर्वजों के ऐसे ऐसे कृत्यों का समर्थन करने के लिए ही न आज कल के यूरोपियन जोरों के साथ इस सिद्धात का प्रतिपादन करते हैं कि संसार में जो सब से अधिक योग्य और समर्थ होगा, वही जीवित रह सकेगा, अयोग्य और असमर्थ को नष्ट हो जाना पड़ेगा। बस योग्यता और सामर्थ्य का आज कल संसार में यही अर्थ रह गया है कि मनुष्य हो कर भी अपने से अयोग्यों और असमर्थों का नाश कर डालो, उनकी जमीन, उनकी दौलत और उनकी औरतें छीन लो। बस फिर तुम संसार में बेखटके योग्य और समर्थ माने जाओगे और अयोग्यों तथा असमर्थों को स्वर्ग भेजने के

यश के जो भागी बनोगे, वह अलग ! क्यों, कैसी सभ्यता है !

पाठक कहीं भ्रम में न आ जायँ और यह न समझ बैठें कि यह तो कई शताब्दि पहले की बात है। आज कल के गोरे ऐसा नहीं करते अथवा ऐसा करना नहीं चाहते। उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि आज कल संसार में इन गोरों के द्वारा जो कृत्य हो रहे हैं, उनका बीजारोपण इन्हीं कृत्यों से हुआ था। फल-फूल चाहे देखने में बीज के बिलकुल समान न हों, पर उनमें बीज का प्रभाव सदा बना रहता है। आज कल के गोरों के कृत्य इन्हीं पुराने कृत्यों के केवल कुछ सुधारे और सँवारे हुए रूप ही है। और कुछ नहीं। पहले के मुक्के के ख़ाली हाथ चलते थे, आजकल वे मुक्के मखमल के दस्ताने चढ़ा कर चलाए जाते हैं। इसके अतिरिक्त पहले ख़ाली जहर दिया जाता था; आजकल चीनी में लपेटकर दिया जाता है। बस, इतनी ही उन्नति और इतना ही सुधार हुआ है। इसके अतिरिक्त और कोई अन्तर नहीं है। जो निर्घृण कृत्य पहले खुले आम किया जाता था, उसे अब उसी तरह करने का साहस उनको नहीं रहा। अतः वह मुँह ढांक कर किया जाता है।

आजकल अन्य-वर्णीय जातियों के जो लोग अमेरिका में रहते हैं उनकी संख्या कम करने के लिए कहां कु कु क्लक्स क्लन नामक एक गुप्त संस्था निर्माण हो गई है इसका संगठन बड़ा गुप्त और शक्तिशाली है। उसके सदस्यों की संख्या लाखों में है। उनका उद्देश है गोरों के प्रभुत्व के मार्ग में विघ्न उपस्थित करने वाली सभी जातियों का हर उपाय से नाश करना उसके पास साधन-सम्पति भी खासी है। कहा जाता है कि वहां के बड़े बड़े अधि-

कारी तक उसके सदस्य हैं। परन्तु यह कहना कठिन है कि अन्य वर्ण की सभी जातियों में जो गोरों का द्वेष बढ़ रहा है उसके प्रबल वेग के सामने यह बेचारी संस्था कहां तक टिक सकेगी।

गोरे बहादुरों ने निहत्थे और निरीह पुरुषों को अपने पूर्वजों की भूमि छोड़ कर भागने या नष्ट होने के लिए विवश किया और उनकी अतुल संपत्ति पर अधिकार कर लिया। इस संपत्ति के सम्बन्ध में हम इतना ही कह देना यथेष्ट समझते हैं कि वह अतुल थी और इतनी अधिक थी, जितनी इन गोरों ने पहले कभी स्वप्न में भी नहीं देखी थी। यदि इन विजेताओं और विजितों की उस समय की आर्थिक अवस्था की तुलना की जाय तो कहना पड़ेगा कि अभागे विजित लोग लखपती और करोड़पती थे और उनके सामने गोरे विजेता बहुत ही साधारण, बल्कि प्रायः दरिद्र थे। उस समय विजेताओं का मुख्य उद्देश्य भी सम्पत्ति प्राप्त करना ही था और इसी सम्पत्ति के लिए उन्होंने ऐसे ऐसे क्रूर कृत्य किये थे, जिनकी तुलना नहीं हो सकती। इन्होंने पहले तो रक्त वर्ण वालों को मार कर उनकी सम्पत्ति पर अधिकार किया और तब उनके देश पर। जब ये वीरवर अपने घर से इतना बड़ा धर्मयुद्ध करने निकले थे, तब ये अपने साथ अपनी स्त्रियों को तो ले ही नहीं गये थे। और दूसरे, विजेताओं को इस बात का अधिकार भी होता है कि वे विजितों की सम्पत्ति के अतिरिक्त उनके देश और स्त्रियों पर भी अधिकार कर लें। इसलिए इन्होंने उन भागे हुए अथवा मरे हुए रक्त वर्ण वालों की स्त्रियों को भी अपने अधिकार में कर लिया और इस प्रकार रक्त वर्ण वालों पर सर्वाङ्ग पूर्ण विजय प्राप्त कर ली। पुरुषों के नाश के कारण रक्त वर्ण की

वंशवृद्धि तो बिलकुल रुक गई और वर्ण-संकर सृष्टि ने जोर पकड़ा। एक गये बीते गोरे सिपाही के पास भी रक्त वर्ण के सैकड़ों गुलाम और सैकड़ों स्त्रियाँ दिखाई देने लगीं। अंधे के हाथ बटेर नहीं बल्कि बटेरों का झुण्ड लग गया। परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही समय में सारा देश वर्ण संकरों से भर गया। आजकल के अधिकांश यूरोपियन भी और अमेरिकन भी इन कृत्यों की बहुत अधिक निंदा करते हैं, पर वे इसके लिए केवल स्पेनियों को ही दोषी ठहराते हैं। पर हम इस समय केवल वर्णों के कृत्यों और अवस्थाओं आदि का ही वर्णन कर रहे हैं और हमें अपने काम के लिए गोरों की भिन्न भिन्न शाखाओं का विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हम उन शाखाओं में इसलिए कोई विशेष अन्तर भी नहीं समझते कि आखिर वे सब हैं तो एक ही वंश-वृक्ष की शाखा; इसलिए हम उन सब को एक मान कर ही चलते हैं। आशा है, इसके लिए पाठक हमें दोषी न ठहरावेंगे।

स्पेनियों ने रक्त वर्ण की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध स्थापित करके जो सन्तान उत्पन्न की थी, वह मेस्टिजो या चोलो कहलाई। रक्त वर्ण के जिन लोगों को स्पेनियों ने पकड़ कर अपना गुलाम बनाया था, वे बेचारे अपने गोरे प्रभुओं के अत्याचार सहने में असमर्थ थे; इसलिए और कोई उपाय न देख कर धीरे धीरे स्वर्ग का रास्ता पकड़ने लगे। लोग कहते हैं कि एक पाप से अनेक पापों की सृष्टि होती। गोरों ने अमेरिका में इतने पाप किये थे। इन पापों से और पापों की सृष्टि क्यों न होती! उनके पास यथेष्ट सम्पत्ति भी हो गई थी, यथेष्ट भूमि भी हो गई थी और यथेष्ट स्त्रियाँ भी हो गई थीं। भला पाप के इतने साधनों के रहते वे

अधिक पाप क्यों न करते ! जब उनके रक्त वर्ण के पुराने गुलाम मरने लगे, तब नये गुलामों की चिन्ता हुई; क्योंकि हराम का वैभव होते हुए हरामी वंश बिना गुलाम के कैसे रह सकता था ? इस काम के लिए उन्हें आफ्रिका के हबशी सबसे अधिक उपयुक्त दिखाई दिये। वे चट आफ्रिका से हबशी गुलाम ला ला कर भेड़ बकरियों की तरह उनका व्यवसाय करने लगे। इन हबशी गुलामों के साथ भी जो जो अत्याचार हुए, उनका वर्णन सुन कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। न तो हमारे पास उसका वर्णन करने के लिए स्थान ही है और न हम में इतनी सामर्थ्य ही है। यदि पाठक चाहें तो अन्य ग्रंथों में उनका वर्णन पढ़ सकते हैं। हमारा तात्पर्य केवल यह बतलाना ही है कि स्पेनियों के कारण वहाँ वर्ण संकरता कितनी और कैसे वृद्धि हुई। रक्त वर्ण की स्त्रियों को तो गोरे अपने पास रखते ही थे और उनसे सन्तान उत्पन्न करते ही थे। अब वे हबशी जाति की स्त्रियों को भी कृतार्थ करने लगे। इस संयोग से मुलटो नामक वर्ण-संकर जाति की सृष्टि हुई। उधर रक्त और कृष्ण वर्ण के लोगों के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न हुई, वह जम्बू कहलाई। तात्पर्य यह कि थोड़े ही समय में दक्षिण अमेरिका में गौर, कृष्ण और रक्त इन तीनों वर्णों के संयोग से अनेक ऐसी रंगबिरंगी और तरह तरह की वर्ण संकर जातियों की सृष्टि हो गई जो सब प्रकार से अभूतपूर्व और अनुपम थीं।

लेकिन इतना होने पर भी एक बात थी। राजनीतिक दृष्टि से इन वर्ण-संकर जातियों का उन देशों में कुछ भी महत्व नहीं था। स्पेनी लोग अपने आपको देश का मालिक और शासक समझते थे और उनके राज्य में शुद्ध गोरों के अतिरिक्त और किसी को

किसी प्रकार का राजनीतिक, सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार प्राप्त नहीं था। इतने पर भी तमाशा तो यह था कि यूरोप में जन्म लेनेवाले स्पेनी अमेरिका उपनिवेश में जन्म लेनेवाले अपने स्पेनी भाइयों को भी अपने से तुच्छ समझते थे। अमेरिका में जन्म लेनेवाले स्पेनी यूरोप में क्रियोल कहे जाते थे। धीरे धीरे ये क्रियोल लोग अनेक बातों में पतित भी होते गये जिसके कारण वे दिन दिन अपनी जन्मभूमि में और भी निकृष्ट माने जाने लगे। एक तो उन देशों का जल-वायु कुछ गरम होने के कारण इन युरोपियनों के अनुकूल नहीं था; और दूसरे कृष्ण तथा रक्त वर्ण की स्त्रियों के साथ सम्बन्ध होने के कारण भी वे दिन पर दिन पतित और अयोग्य होते जाते थे। यद्यपि कानून बनाकर अनेक रुकावटें खड़ी की गईं, तथापि रक्त और कृष्ण वर्ण ने गोरे वर्ण को अपने आप में मिला लिया। फिर भी जब तक वहाँ स्पेनियों का शासन था, तब तक स्पेनी वंश की थोड़ी बहुत रक्षा होती ही जाती थी, अथवा यों कहना चाहिए कि जिस व्यक्ति का रंग कुछ गोरा होता था, वही गौर वर्ण का मान लिया जाता था और समाज में उसी का आदर होता था। पर आगे चलकर वह बात भी न रह गई।

इसके उपरान्त लैटिन अमेरिका में स्पेन के विरुद्ध क्रान्ति हुई। क्रियोलों को यूरोपवाले तुच्छ समझते थे और उनके साथ भी अनेक प्रकार के अत्याचार करने लग गये थे। इसलिए क्रियोलों ने यूरोपियनों के साथ लड़ना भिड़ना आरम्भ कर दिया। उनका यह झगड़ा १८०९ में आरम्भ हुआ था और प्रायः बीस वर्ष तक चलता रहा। दोगले गोरों ने शुद्ध गोरों को दबा लिया और शुद्ध

गोरों को वहाँ से भागना पड़ा। दूसरी वर्ण-संकर जातियों ने भी उस विद्रोह में क्रियोलों का साथ दिया था, इसलिए जब क्रियोलों की विजय हो गई, तब वे वर्ण-संकर उनसे अपना पुरस्कार माँगने लगे। क्रियोल चाहते थे कि अब जो नई सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था हो, उसमें भी वही पुराना सिद्धान्त काम दे, और गौर वर्ण को ही सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हों। वे चाहते थे कि राजकार्यों में मत देने का अधिकार केवल गोरों को ही प्राप्त हो। उस समय उत्तर अमेरिका और फ्रान्स में राज्य-क्रान्तियाँ हो रही थीं और सब जगह प्रजातंत्र की चिल्लाहट भी हुई थी। इसलिए वहाँ के वर्ण-संकर भी कहने लगे कि हमें मत देने का अधिकार मिले और सब लोगों को समान अधिकार मिलें। केवल वर्ण के विचार से किसी को अधिक और किसी को कम अधिकार न दिये जायँ। यह गड़बड़ देखकर राज्य-क्रान्ति का प्रधान नेता बोलिवर तो वहाँ से गायब हो गया और उसके पीछे उसके साथियों और सहायकों में छोटे मोटे अनेक युद्ध छिड़ गये, जो बहुत दिनों तक होते रहे। सारे देश में अराजकता फैल गई, जिसके परिणाम-स्वरूप वहाँ गोरों का प्रभुत्व तो घट गया और वर्ण-संकरों का राजनीतिक तथा सामाजिक अधिकार बढ़ गया। गोरे अमीरों पर गरीब वर्ण-संकर सैनिक आक्रमण करके उन्हें अपनी आज्ञानुसार चलने के लिए विवश करते थे। वे गोरे अमीरों पर अनेक प्रकार के अत्याचार करके उनके गुलामों को मुक्त करते थे और अपनी इच्छानुसार प्रजातंत्र राज्य स्थापित करते थे।

इन सब बातों का परिणाम स्वभावतः बहुत बुरा हुआ। अच्छा परिणाम हो भी नहीं सकता था। पहले स्पेनियों के शासन-

काल में वर्ण-संकरों पर अत्यचार होते थे और बलपूर्वक शान्ति रखी जाती थी। अब वर्ण-संकर लोग स्पेनियों पर अत्याचार करते थे और सब जगह अशान्ति तथा अराजकता का राज्य हो गया था। इस झगड़े में अयोग्य वर्ण संकरों की खूब बन आई और उनके हाथों अनेक शुद्धवंशियों और योग्य तथा बुद्धिमान् पुरुषों का अन्त भी हुआ। स्पेनियों ने पाप का जो बीज बोया था, अब वही फल फूल रहा था। सबको वे फल चखने और वे फूल सूँघने पड़ते थे। प्रकृति की ओर से यह अनिवार्य दण्ड था जो सबको भोगना पड़ता था। भला उससे कोई कैसे बच सकता था।

प्रायः उन्नीसवीं शताब्दि के मध्य तक लैटिन अमेरिका की अराजकता आदि के कारण यही दुर्दशा होती रही। अराजकता के साथ अत्याचार भी सदा अनिवार्य ही हुआ करता है। जो ज़बरदस्त होता था, वही बरसों तक दूसरों को अपने अधिकार में रखता और उनपर हुकूमत चलाता था। कहीं कहीं कुछ शान्ति भी स्थापित हो चली थी। पर अधिकांश स्थानों में यही होता था कि कुछ ज़बरदस्त अपने थोड़े से साथियों को लेकर अधिकारारूढ़ हो जाते थे और अपने आसपास के प्रदेशों को अपनी आज्ञानुसार चलने के लिए विवश करते थे। पर इन ज़बरदस्तों और वर्ण-संकरों के कारण शान्ति स्थापित नहीं होने पाती थी। पर दो एक प्रदेश ऐसे भी थे जिनमें अराजकता नहीं फैल सकी थी और जहाँ शान्तिपूर्वक उन्नति हो रही थी। इन प्रदेशों में चिली मुख्य था। बात यह थी कि चिली का जलवायु बहुत ठण्ढा था और वहाँ सोने आदि की खानें भी नहीं थीं, जिससे विदेशियों को अधिक लूटपाट का अवसर मिलता। और इस प्रकार असन्तपो

की उत्पत्ति होती । युरोप के अनेक देशों के शुद्ध गौर वर्ण के लोग वहाँ आकर बसने लगे । वे लोग अपने साथ अपनी स्त्रियों और बच्चों को भी वहाँ ले जाते थे इसलिए झगड़ों बखेड़ों का अवसर और भी कम हो गया था । वे लोग देश के मूल वासियों के साथ विवाह सम्बन्ध भी बहुत कम स्थापित करते थे, जिससे वर्ण-संकरी सृष्टि भी वहाँ नहीं होने पाती थी । वहाँ के मूल निवासी इन गोरों से दूर रहते थे और कभी कभी उनसे लड़ भी जाते थे । पहले एक बार चिली में भी क्रान्ति की लहर उठी थी, पर उसका मूल राजनीतिक था, सामाजिक या वर्ण सम्बन्धी नहीं । इसके अतिरिक्त वहाँ नित्य नये शुद्ध गौर वर्ण के लोग पहुँचते थे जो वहाँ के मूल निवासियों को दबाये रखते थे और अधिक उपद्रव नहीं होने देते थे । अमेरिका की स्वतंत्रता के युद्ध में जो अनेक अँगरेज सम्मिलित हुए थे, वे पीछे से उस देश को अनुकूल पाकर उसी में आ बसे थे । जरमनों की संख्या भी वहाँ कम नहीं थी । इन सब कारणों से चिली में अन्य देशों की अपेक्षा अधिक व्यवस्था और शान्ति थी ।

शान्ति और व्यवस्था आदि में चिली के बाद पेरू, कोलम्बिया और कास्टारिका आदि का नम्बर था । इन देशों में भी बहुत से शुद्ध युरोपियन जा बसे थे जो सामाजिक दृष्टि से देशियों की अपेक्षा श्रेष्ठ समझे जाते थे । वे गोरे भी अपनी सामाजिक श्रेष्ठता की भली भांति रक्षा करते थे । चिली में तो देशियों की संख्या कम थी, पर इन देशों में देशियों और हबशियों दोनों की संख्या बहुत अधिक थी । वर्ण संकरों की संख्या भी कम नहीं थी । वहाँ भी कुछ झगड़े बखेड़े हुए थे और अब तक थोड़े बहुत होते रहते

हैं, पर अन्य देशों की अपेक्षा कम। वहाँ गोरों का ही विशेष प्रभुत्व है। पर वे गोरे अपने वंश की शुद्धि शीघ्र ही नष्ट कर देते हैं और उनकी दूसरी या तीसरी पीढी वर्ण-संकर हो जाती है। कास्टारिका एक छोटा सा ठण्डा देश है और बहुत दिनों से वहाँ गोरों का उपनिवेश स्थापित है। वहाँ गोरों ने अपेक्षाकृत अच्छी उन्नति की है।

आरजेण्टाइन और युरुग्वे में भी वहाँ के मूल निवासियों अथवा विदेशियों का उतना अधिक सामाजिक पतन नहीं हुआ है। क्रान्ति के समय वहाँ भी रक्त तथा कृष्ण वर्णवालों की अधिकता थी और उन्होंने भी गोरों को दवा लिया था। वे दोनों देश थे तो ठण्डे और युरोपियनों के अनुकूल ही, पर वहाँ सोना आदि अधिक नहीं था, इसलिए आरम्भ में स्पेनियों ने उसकी उपेक्षा की थी, वहाँ की भूमि बहुत अधिक उपजाऊ थी जो वहीं के आदिम निवासियों के हाथ में थी। जो थोड़े से गोरे वहाँ पहुँचे भी थे, वे समुद्र तट पर दो एक वड़े वन्दर वनाकर वहीं रहते थे। पर पीछे से वहाँ पशु-पालन और कृषि-कर्म बहुत अधिकता से होने लगा जिसके कारण वहाँ गोरे भी अधिक संख्या में पहुँचने लगे, अब वहाँ गोरों की ही अधिकता और उन्हीं का प्रभुत्व है। वहाँ के देशी उनके सामने दवते जा रहे हैं। ब्रेजिल के दक्षिणी प्रान्तों में भी, जो युरुग्वे की सीमा के पास पडते हैं, गोरों की वस्ती बरा-बर वढती जाती है। जिस प्रकार स्पेन ने आरजेण्टाइना और युरुग्वे की उपेक्षा की थी, उसी प्रकार पुर्तगाल ने ब्रेजिल के इन दक्षिणी प्रान्तों की भी उपेक्षा की थी। इसी लिए आज से प्रायः चार सौ वर्ष पहले वहाँ बहुत कम आवादी थी। पर आज-

कल वहाँ लाखों इटेलियन, पुर्तगाली और जरमन बसते हैं। ब्रेजिल के इन दक्षिणी प्रान्तों में बहुत अधिक संख्या गोरों की है और उत्तर के प्रान्तों में रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लोगों की अधिकता है।

परन्तु लैटिन अमेरिका के जो प्रदेश गरम हैं, वे प्रायः रक्त वर्णवालों के ही हाथ में हैं। अब वहाँ गोरों का प्रभुत्व प्रायः नहीं के समान हो गया है। वहाँ जो थोड़े बहुत गोरे परिवार हैं भी, उनमें देशियों का रक्त मिल गया है। तो भी उन देशों में उनका प्रभुत्व कम नहीं होने पाया है। पर आजकल वहाँ भी मेक्सिको की भांति उपद्रव होने लगे हैं और गोरों के विरुद्ध वहाँ के रक्त तथा कृष्ण वर्ण के लोग सिर उठाने लगे हैं। कदाचित् वे भी इन गोरों के प्रभुत्व से सन्तुष्ट नहीं हैं।

अनेक विद्वानों का मत है कि लैटिन अमेरिका के वर्णसंकर योग्यता आदि में शुद्ध गोरों की अपेक्षा बहुत कम हैं। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। गोरों और रक्त वर्ण वालों के संयोग से उत्पन्न मेस्टिजी कुछ पर योग्य होते हैं गोरों तथा कालों के संयोग से उत्पन्न मुलटो और भी अयोग्य होते हैं। रक्त तथा कृष्ण वर्ण के संयोग से जो जम्बो उत्पन्न होते हैं, वे तो सब से गये बीते हैं। पेरू के एक प्रसिद्ध विद्वान् का मत है कि अमेरिका के इतिहास में वर्ण सम्बंधी प्रश्न बड़ा ही विकट है। उससे इस बात का पता चलता है कि किस प्रकार कुछ लोगों की उन्नति और किस प्रकार कुछ की अवनति हुई। उसी प्रश्न पर विचार करने से यह भी मालूम हो सकता है कि आज कल अमेरिका में जो अव्यवस्था है, वह किस कारण से है। इसी वर्ण संबंधी प्र[श्न] पर वहाँ की साम्पत्तिक, व्यापारिक तथा शिल्प संबंधी उन्न[ति]

निर्भर है। शासन की दृढ़ता और देशहित के भावों का आधार भी यही वर्ण संबंधी प्रश्न है। वर्ण संकरता के कारण वहाँ अनेक जटिल प्रश्नों की सृष्टि हो गई है। ऐसी विकट अवस्था में क्या यह संभव है कि लोगों में राष्ट्रीयता के भाव समान रूप से हों? ऐसी स्थिति में पड़े हुए देश किसी बलिष्ठ आक्रमणकारी या श्रेष्ठ आगन्तुक का आक्रमण भी नहीं सह सकते। आगे चलकर वह विद्वान् बतलाता है कि जो गोरे वहाँ पहुँच कर वर्ण-संकर हो गये हैं, वे बहुत ही निकम्मे, आलसी और अयोग्य हो गये हैं। दिन पर दिन उनका भी और उनके साथ रक्त तथा कृष्ण वर्ण वालों का भी अनेक दृष्टियों से पतन होता जाता है। अंत में उस विद्वान् ने उद्धार का एक मात्र उपाय यही बतलाया है कि युरोप के शुद्ध गोरे वहाँ पहुँच कर अपना अधिकार तथा प्रभुत्व स्थापित करें। इसके अतिरिक्त रक्षा का और कोई उपाय नहीं है। इसी से मिलता जुलता मत और भी अनेक विद्वानों का है। पर हम यह बात नहीं मानते। हमारी समझ में इस प्रकार की बातें कर के गोरे उन प्रदेशों में अपने उपनिवेश स्थापित करने के लिए बहाने निकालते और पेशबंदियाँ करते हैं। यदि आज वहाँ बहुत से गोरे पहुँच जायँ तो उसका परिणाम यही होगा कि वे कुछ दिनों तक वहाँ के धन का खूब अपहरण करेंगे और तब थोड़े दिनों बाद जब वहाँ के देशी निवासियों की आँखें खुलेंगी, तब फिर वही झगड़े बखेड़े खड़े होंगे जो गोरों के अन्यान्य अधीनस्थ देशों में हो रहे हैं। और अंत में फिर भी विजय देशियों की ही होगी। हाँ इससे पहले गोरों को अनर्थ और अपहरण करने का यथेष्ट अवसर मिल जायगा। इससे पहले जो जो अनर्थ और

उपद्रव हुए है। वे भी इन्हीं गोरों के कारण हुए हैं। गोरों ने वहाँ पहुँच कर अनेक प्रकार के अत्याचार किये, लोगों की धन संपत्ति लूटी और देशियों को अपना गुलाम बनाया। इसके बाद वे ऐश आराम में लग गये और वर्ण-संकरी सृष्टि उत्पन्न करने लगे गये। आज कल जो उपद्रव और उत्पात होते हैं, वे इन्हीं सब दुष्कर्मों के परिणाम हैं। अब यदि गोरे फिर वही काम किसी दूसरे और अधिक सभ्य रूप में करना चाहेंगे, तो आगे चल कर उसका परिणाम भी इससे कुछ मिलता जुलता ही होगा; क्योंकि गोरों का यह नियम सा हो गया है कि वे पहले तो किसी देश को उन्नत करने और सभ्य बनाने के बहाने अपने हाथ में कर लेते हैं और तब वहाँ अत्याचार और अपहरण करने लगते हैं। अब कुछ दिनों बाद लोगों की आँखें खुलती हैं और वे उनके अधिकार से निकलने का उद्योग करते हैं, तब ये अपना हक बतलाने लगते हैं और दूसरों को विद्रोही तथा अराजक ठहराते हैं। यदि दक्षिण अमेरिका के गरम प्रदेशों में शांति और व्यवस्था स्थापित करने के बहाने बहुत से गोरे जा बसेंगे, तो थोड़े दिनों बाद उन प्रदेशों में भी वही दृश्य देखने में आवेंगे जो आज कल गोरों के अधीनस्थ अन्यान्य देशों में देखने में आते हैं। संसार के अनेक बड़े बड़े देशों को तो इन गोरों की शांति और व्यवस्था आदि का पूरा पूरा परिचय मिल चुका है और वहाँ से इनके प्रस्थान का समय समीप आ रहा है। इसलिए अब ये अपने लिए नये नये शिकार ढूँढने की चिंता में लगे हुए हैं और उन्हीं नये शिकारों में ये दक्षिण अमेरिका के कुछ प्रदेशों को भी लाना चाहते हैं, जिनको अब तक इन लोगों ने अनेक कारणों से छोड़ रखा था।

हम यह मानते हैं कि दक्षिणी अमेरिका में आज कल शांति तथा व्यवस्था का बहुत अधिक अभाव है। पर प्रश्न तो यह है कि इसमें दोष किसका है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इस के दोषी गोरे ही प्रमाणित होंगे। उन्होंने पहले तो देशियों को लूट मार कर बिलकुल दरिद्र बना दिया और तब कृष्ण वर्ण वालों को ला कर उनके साथ रक्त वर्ण वालों का संयोग करा दिया। साथ ही स्वयं भी अनेक प्रकार के दुराचार तथा अनाचार किये और देश को वर्ण संकरों से भर दिया। अब यदि वे दरिद्र वर्ण संकर अनेक प्रकार के उपद्रव करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। पुराने गोरों ने तो पुराने उपायों से उन लोगों का नाश और पतन किया जिसकी निंदा आज कल के अनेक गोरे भी करते हैं। पर वे ही निन्दक अब सुधार के ऐसे उपाय बताते हैं जो उन पुराने उपायों के केवल परिवर्तित और संशोधित रूप ही हैं। उनका भी मुख्य उद्देश्य अपहरण ही था और इनका भी वही उद्देश्य है। अन्तर केवल उसके प्रकार में है। पर ऐसे लोगों को समझ रखना चाहिए कि जो काम बुरा है वह चाहे अच्छे प्रकार से किया जाय और चाहे बुरे प्रकार से किया जाय, उसका परिणाम सदा बुरा ही होगा। केवल प्रकार बदलने से बुरे काम की बुराई दूर नहीं हो सकती। और साथ ही अब गोरों के शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने के बहाने अधिक दिनों तक नहीं चल सकते।

गोरों ने दक्षिण अमेरिका के रक्त-वर्ण वालों का सर्वस्व लूट लिया, पर उनकी किसी प्रकार की उन्नति करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। अब उनकी दशा प्रायः जंगलियों की सी हो गई है। आधुनिक संसार का, न तो उनको कोई ज्ञान है और न

अनुभव। वे गाँवों में रहकर खेती बारी करते और पशु पालते हैं।
गोरे उन पर ठीक ठीक शासन नहीं कर सकते इसलिए वे लोग
अवसर पाकर सिर उठाते हैं। वे अपने साथ कुछ आदमी ले
लेते हैं और लूट मार कर करके गोरों से अपना पुराना बदला
निकालने का उद्योग करते हैं। धीरे धीरे वे अपना अधिकार भी
बढ़ा लेते हैं। जब शिक्षित और सभ्य गोरे अधिकार प्राप्त करके
अनेक प्रकार के अनर्थ और अत्याचार करने लगते हैं, तब यदि
अमेरिका के सीधे सादे रक्त वर्ण वाले अधिकार प्राप्त करके, और
वह भी केवल बदला चुकाने के लिए, अनर्थ और अत्याचार करें
तो इसमें गोरों को कोई शिकायत नहीं होनी चाहिए। पुराने
गोरों की बात जाने दीजिये। यदि आजकल के गोरे भी वास्तव
में परोपकारी होते और अमेरिका के रक्त वर्ण वालों का सचमुच
कल्याण करना चाहते, तो आज वहाँ शान्ति भी स्थापित हो सकती
है और देश भी उन्नत हो सकते हैं। पर कठिनता तो यह है कि
गोरे सब जगह केवल अपना ही मतलब निकालना चाहते हैं और
ढोंग रचते हैं दूसरों के उपकार का। उपकार के बहाने जिन लोगों
का ये लोग अपकार करते हैं, वे यदि इससे असंतुष्ट हों और
इनके साथ किसी प्रकार का वैर करें तो इसमें दोष किसका है?
स्वयं उपद्रव खड़ा करना और फिर उस उपद्रव के लिए दूसरों को
दोषी ठहराना यही गोरों का एक मुख्य सिद्धांत है। इस सिद्धांत
के सहारे उन्होंने अबतक अपना बहुत कुछ काम निकाला है और
बहुत अधिक आर्थिक लाभ किया है। पर धूर्तता आदि की भी
कोई सीमा होती है। इधर सैकड़ों बरसों से संसार इनकी चाल
बाजियाँ देख रहा है और अब वह धीरे धीरे होशियार होता जाता

है। अब वह इनके जाल से निकलना चाहता है और भविष्य में इनकी धूर्तता से बचना चाहता है। 'पर ये भी कुछ कम चतुर नहीं हैं। ये नित्य नये नये बनाते चले जाते हैं। और जब तक इनका बल चलेगा तब तक बनाते रहेंगे। इस जाल का अंत तभी होगा, जब सारा संसार इन गोरों का विश्वास करना छोड़ देगा।

आजकल दक्षिण अमेरिका की जो अवस्था है, उसका संक्षिप्त रूप यही है। गोरों ने वहाँ पहुच कर जो क्रान्ति की, उसके परिणाम स्वरूप वहाँ नई नई क्रान्तियाँ होती हैं। और उन्होंने पहले जो अत्याचार किये थे, उन अत्याचारों के फल स्वरूप वहाँ नये नये अत्याचार होते हैं। इन क्रान्तियों और अत्याचारों का परिणाम यह होता है कि देश के धन और जन की यथेष्ट हानि होती है और देशवासियों का दिन पर दिन पतन होता जाता है। गोरों का अधिकार वहाँ से प्रायः उठ सा गया है और धीरे धीरे वे वहाँ से हटने लगे हैं। वर्ण-संकरों ने अपना अधिकार जमाना चाहा था, पर उन को भी सफलता नहीं हो सकी। वहाँ की अराजकता और अत्याचार देखकर नये गोरों को वहाँ जा कर बसने का साहस भी नहीं होता। वे सोचते है कि जलती हुई आग में बाल बच्चों को लेकर कूदने कौन जाय? इसलिए अभी कुछ दिनों तक वहाँ अराजकता के बने रहने की सम्भावना है। यह अराजकता न तो गोरों के दूर किये दूर हो सकती है और न वर्ण-संकरों के प्रयत्न से ही नष्ट हो सकती है। यह अराजकता वही लोग दूर करेंगे, शान्ति वही लोग स्थापित करेंगे जो वास्तव में उस देश के स्वामी हैं, और उन देशों के नैसर्गिक अधिकारी हैं।

देश रक्त वर्ण वालों का है और वहाँ शान्ति तभी होगी जब

देश पर पूरा पूरा अधिकार उन्हीं रक्त-वर्ण वालों का होगा । यदि गोरे यह सोचते हों कि हमारे अधिक संख्या में वहाँ आकर बस जाने से ही शांति स्थापित हो जायगी, तो यह उनका भ्रम है । सम्भव है कि कुछ समय के लिए इस उपाय से थोड़ी बहुत भूठी-सच्ची शांति स्थापित हो जाय, पर वह शांति कभी स्थायी नहीं होगी । पहले रक्त-वर्ण वाले गोरों के बड़े भक्त थे । पर इन गोरों ने अपने कृत्यों से उनकी भी भक्ति नष्ट कर दी । अब वे भी गोरों के विरोधी हो रहे हैं । भला जिन गोरों ने रक्त-वर्ण वालों का सर्वस्व लूट लिया, जो गोरे उनको दरिद्र बना कर स्वयं उनकी सम्पत्ति से अनेक प्रकार के सुख भोगते हैं और जो गोरे इतना सब कुछ करके भी उन रक्त-वर्ण वालों को बिलकुल तुच्छ, हीन और अपना गुलाम समझते हैं, उन गोरों से वे रक्त-वर्ण वाले कहां तक प्रसन्न और सन्तुष्ट रह सकते हैं । इसलिए आजकल अमेरिका के रक्त-वर्ण वालों में भी राष्ट्रीय आन्दोलन का आरम्भ हो चला है । कुछ तो गोरों के अत्याचारों ने और कुछ युग-धर्म ने उनकी आँखें खोल दी हैं । अब वे भी इस बात का उद्योग करने लगे हैं कि हमारे देश में विदेशियों का प्रभुत्व न रह जाय । यह आन्दोलन और देशों की अपेक्षा मेक्सिको में कुछ अधिक स्पष्ट रूप में दिखाई देता है । दक्षिणी अमेरिका के पश्चिमी तट पर भी इस आन्दोलन का पूर्व रूप दिखाई देने लगा है । वे धीरे धीरे अपनी नष्ट सम्पत्ति भी प्राप्त कर रहे हैं, अपनी नष्ट मर्यादा भी सम्पादित कर रहे हैं और अनेक उपायों से अपनी उन्नति भी कर रहे हैं । उनके रंग ढंग देख कर अनेक गोरों को इस बात का भय होने लगा है कि ये लोग हमारे हाथ से निकल जायँगे और अपने

देश पर फिर से अधिकार कर लेंगे। १९१२ में दक्षिण अमेरिका सम्बन्धी अपनी पुस्तक में लार्ड ब्राइस ने लिखा था कि बोलिविला में इधर रक्त-वर्ण वालों के उपद्रव बढ़ चले हैं। अब उनके पास पहले की अपेक्षा हथियार भी अधिक हो गये हैं। उनकी संख्या तो पहले से ही बहुत अधिक है। यदि वे लोग मिल कर गोरों के विरुद्ध कोई उपद्रव करना चाहें तो भीषण उपद्रव कर सकते हैं। उनके उपद्रव की तो इन गोरों को इतनी चिंता है, और स्वयं जो जो अनर्थ तथा अत्याचार कर चुके हैं, उनका कोई ध्यान ही नहीं है। दूसरों का सर्वस्व छीन लेना और जब वे लोग अपना माल वापस करने की कोशिश करें, तो चिन्तित और भयभीत होना ही इन सभ्य गोरों का कर्तव्य रह गया है।

लेटिन अमेरिका के अधिकांश प्रजातंत्र राज्यों में से गोरों का प्रभुत्व तो उठ ही गया। अब वहाँ के वर्ण-संकरों के हाथ से रक्त-वर्ण वाले सब अधिकार छीनना चाहते हैं। अतः अब हमें संक्षेप में इस बात का विचार करना चाहिए कि वे रक्त वर्ण वाले शासन-कार्यों के लिए कहाँ तक योग्य हैं, उनके हाथ में शासन आ सकता है या नहीं और यदि आ सकता है तो वे उसे कहाँ तक अपने हाथ में रख सकते हैं।

इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता कि रक्त-वर्ण वाले कृष्ण-वर्ण वालों की अपेक्षा कहीं अधिक योग्य हैं। हबशियों ने विदेशियों के प्रभाव में पड़ कर और उनकी सहायता पा कर भी अब तक कोई विशेष महत्व का अथवा प्रशंसनीय काम नहीं किया। न तो पहले उनकी कोई निज की ही सभ्यता थी और न वे बाद में दूसरों की सहायता से ही

अपनी सभ्यता संघटित कर सके। पर रक्त-वर्ण वालों ने सदा सारे संसार से अलग रह कर भी अपनी बहुत अच्छी सभ्यता संघटित की थी। उन्होंने अपने यहाँ सभ्य समाज की सृष्टि की अनेक प्रकार की उन्नति की और बड़े बड़े राज्य तथा साम्राज्य स्थापित किये। इससे पता चलता है कि उनमें बुद्धि का कभी अभाव नहीं था। मध्य अथवा पौराणिक युगों में युरोप अथवा एशिया वालों ने जितनी अधिक उन्नति की थी, यदि उतनी अधिक नहीं तो भी उससे कुछ ही कम उन्नति इन रक्त वर्ण वालों ने भी अवश्य की थी।

रक्त वर्ण वाले बहुत दृढ़चित्त होते हैं और वे जल्दी दूसरों के प्रभाव में नहीं आते। पर कदाचित अपने इसी गुण के कारण वे विशेष उन्नति भी नहीं कर सकते। वे एक बार जिस अवस्था में पहुँच जाते हैं, उस अवस्था से आगे बढने में उनको बहुत अधिक समय लगता है। यही कारण है कि लोगों को इस बात का सन्देह होता है कि वे आधुनिक सभ्यता की दौड़ में न ठहर सकेंगे। हाँ, यह बात दूसरी है कि आधुनिक सभ्यता की आज कल की दौड़ का ढंग ही बिलकुल बदल जाय। रक्त वर्ण वाले अपनी पुरानी चाल ढाल ही बहुत अधिक पसंद करते हैं और उनको गोरों की चाल ढाल बिलकुल पसंद नहीं है। यद्यपि उनकी भिन्न भिन्न जातियों में परस्पर बहुत अधिक अन्तर है, तथापि मुख्य गुण सब में एक ही है। एक विद्वान् का मत है कि रक्त वर्ण वाले बहुत ही पिछड़े हुए हैं। उनकी बुद्धि मन्द होती है और वे नये विचार ग्रहण नहीं कर सकते। सम्भव है कि आगे चल कर उनमें परिवर्तन हो जाय और वे उन्नति कर सकें, पर

इधर चार सौ वर्षों तक गोरों के साथ रहने पर भी उनमें बहुत ही कम परिवर्तन हुआ है, इसलिए भविष्य में भी उनसे कोई विशेष आशा नहीं की जा सकती। अब तक उनकी जैसी अवस्था रही है, उसे देखते हुए यह कहना पड़ता है कि अभी कई पीढियों तक उनमें बहुत ही कम परिवर्तन होगा। जो रक्त वर्ण वाले गोरों के नगरों में रहते हैं, उनमें अवश्य थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ है। पर फिर भी उनकी प्रवृत्ति से यही जान पड़ता है कि अवसर पाते ही वे फिर अपने पुराने रास्ते पर चलने लगेंगे। गोरों के प्रभाव-क्षेत्र से निकलते ही वे पुनः अपनी पुरानी सभ्यता ग्रहण कर लेंगे। उनके सम्बंध में लार्ड ब्राइस का मत भी इसी से कुछ मिलता जुलता जुलता है। वे यह तो मानते हैं कि रक्त वर्ण वाले खूब लड़ने भिड़ने वाले और अच्छे योद्धा होते हैं, पर उनका कहना है कि राजनीति अथवा युद्ध-क्षेत्र में उन्होंने आज तक कभी कोई विशेष उन्नति नहीं की। वे सदा अपने पुराने हिसाब से ही चलते हैं। उनमें आज तक कोई ऐसा योग्य व्यक्ति नहीं हुआ जो अपने समाज के और आदमियों से कुछ बढ़ चढ़ कर अथवा विदेशियों के मुकाबले का हुआ हो।

रक्त वर्णवालों के सम्बन्ध में यह प्रायः एक निश्चित सिद्धान्त है कि यदि वे लोग अकेले छोड़ दिये जाते और उनके कामों में कोई हस्तक्षेप न करता तो वे बराबर अपनी उन्नति, अपने ढंग पर करते चलते। हाँ, यह सम्भव था कि वे बहुत जल्दी जल्दी और बहुत अधिक उन्नति न करते। पर फिर भी वे कुछ न कुछ उन्नति अवश्य करते। पर कठिनता तो यह हुई कि बीच में ही विदेशियों ने वहाँ पहुँचकर उनकी उन्नति के मार्ग में भारी बाधा खड़ी कर

दी। केवल बाधा ही नहीं खड़ी कर दी। बल्कि एक प्रकार से उनका सर्वनाश कर दिया। क्रूर विजेताओं ने उन पर भीषण रूप से आक्रमण करके उनकी सारी सभ्यता का नाश कर दिया, उनका सर्वस्व लूट लिया और उनको गुलामी की जंजीरों में जकड़ दिया। बस उनकी सारी बनी बनाई इमारत गिर गई और उनकी सभ्यता तथा उन्नति का एक प्रकार से अन्त ही हो गया। वे अपने ढंग पर अपनी उन्नति तो करने ही नहीं पाते थे और अपने कारणों से अपने आपको अपने स्पेनी विजेताओं के अनुकूल भी नहीं बना सकते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि वे अपनी सब पुरानी आदतों को भूल गये और कोई नई बात सीख ही न सके। बस यही बात गत चार सौ वर्षों से वहाँ हो रही है। इन चार सौ वर्षों में उन्होंने कोई नई बात तो सीखी नहीं और अपनी पुरानी सीखी सिखाई सब बातें भुला दीं। उनके जितने मानसिक गुण थे, वे सब नष्ट हो गये और जब से बिलकुल अयोग्य गुलाम रह गये हैं। न तो उनको यथेष्ट भोजन मिलता है और न कोई उनके स्वास्थ्य आदि का ही ध्यान रखता है। उन्हें दिन रात पशुओं के समान काम करना पड़ता है। इसलिए दिन पर दिन उनका नाश होता जाता है। अपने शारीरिक, आर्थिक तथा मानसिक कष्टों को भुलाने के लिए वे आज-कल खूब शराब पीते हैं और यह शराबखोरी उनके नाश में और भी अधिक सहायक होती है।

एक बात और ऐसी है, जो उनके नाश में बहुत अधिक सहायक हो रही है। उनमें वर्ण-संकरता भी भीषण रूप से बढ़ रही है। इसके कारण स्वयं उनका भी पतन होता है और उनके साथ साथ गोरों आदि का भी। वेनेजुला तथा मध्य अमेरिका के दूसरे

कई देशों में शुद्ध रक्त वर्ण वालों की संख्या अब बहुत कम रह गई है। प्रायः सभी लोग वर्ण संकर दिखलाई देते हैं। वहाँ मेस्टिजो बहुत अधिक हो गये हैं। इसके अतिरिक्त समुद्र तट के जो गरम देश हैं, उनमें अब हवशियों की और उन हवशियों के कारण वर्ण-संकरता की और भी अधिक वृद्धि हो रही है। गौर वर्णवालों का रक्त तो उनके लिए केवल हानिकारक ही प्रमाणित होता है, पर कृष्ण वर्णवालों का रक्त उनके लिए बिलकुल नाशक ही है। लेकिन इतना होने पर भी वहाँ वर्ण-संकरता रुकती नहीं, बल्कि दिन दिन बढ़ती ही जाती है। रक्त वर्णवाले विवाह सम्बन्ध के लिए किसी प्रकार का वर्ण सम्बन्धी विचार नहीं करते और इस प्रकार अपने वंश और वर्ण का नाश करते जाते हैं।

इन सब बातों को देखते हुए अमेरिका के रक्त वर्ण वालों का उद्धार इस समय बहुत कठिन जान पड़ता है। यदि उनके कामों में विदेशियों का हस्तक्षेप न हो और वे स्वतंत्र छोड़ दिये जायँ तो भी इस बात की बहुत कम आशा है कि वे अपना सुधार कर सकेंगे। आजकल उनमें जो राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ रहा है, उसका उद्देश रक्त वर्ण वालों की उन्नति करना तो कम है पर अपने विदेशी शासकों से बदला चुकाना ही अधिक है। वर्ण-संकरों के अत्याचारों से भी वे बहुत घबरा गये हैं और उनसे भी वे बदला ही चुकाना चाहते हैं। यद्यपि इस समय वहाँ मनरो सिद्धान्त काम कर रहा है जिसके कारण अन्य देशों के लोगों को वहाँ पहुँचने का साहस नहीं होता, लेकिन फिर भी वहाँ की परिस्थिति देखते हुए इस बात की आशा नहीं होती कि वहाँ अधिक समय तक इस सिद्धान्त की रक्षा अथवा पालन हो सकेगा। संसार की जन-संख्या

दिन पर दिन बढ़ती जाती है और अमेरिका में स्थान बहुत अधिक है। वहाँ प्राकृतिक सम्पत्ति भी बहुत अधिक है और उपद्रव भी खूब होते हैं। आजकल संसार जिस ढंग से चल रहा है, यदि उसी ढंग से वह और कुछ दिनों तक चलता रहा, तो इसमें कोई संदेह नहीं कि और और विदेशी वहाँ पहुँच कर अपना प्रभुत्व जमा लेंगे। पर अभी यह कोई नहीं कह सकता कि वहाँ किसका प्रभुत्व होगा। सम्भव है कि अमेरिका के संयुक्त राज्य वहाँ के और सब देशों को भी मिलाकर एक कर लें और उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका पर उसका और उसके साथियों का अधिकार हो जाय। यह भी सम्भव है कि यूरोप की कुछ बड़ी बड़ी शक्तियाँ जब यह देखें कि दक्षिण अमेरिका की बहुत अधिक प्राकृतिक सम्पत्ति बिलकुल व्यर्थ पड़ी है और वहाँ के लोग उसका दुरुपयोग कर रहे हैं, तब वे मिलकर उस पर आक्रमण करें और उसे अपने अधिकार में कर लें और यह भी सम्भव है कि जापानी वहाँ पहुँचने का उद्योग करें।

रंग ढंग देखते हुए कुछ लोगों को इस बात का संदेह हो रहा है कि शीघ्र ही दक्षिण अमेरिका पीत वर्ण वालों के हाथ में चला जायगा। हम पहले ही बतला चुके हैं कि पीत वर्णवालों की संख्या बराबर बढ़ती जाती है और उनके पास रहने के स्थान की बहुत कमी है। वे अपने लिए किसी उपयुक्त और प्रशस्त स्थान की चिंता में हैं। हम यह तो बतला ही चुके हैं कि पीत वर्ण वालों ने यह निश्चय कर लिया है कि हम अपने प्रदेशों में विदेशियों को अब नहीं घुसने देंगे। आगे चलकर हम यह भी बतलावेंगे कि गोरों के किन किन देशों पर उनकी नजर है और वे किस प्रकार

उन पर अधिकार जमाने की ताक में हैं। पर यहाँ प्रसंगवश हम यह बतला देना चाहते हैं कि दक्षिण अमेरिका को हम लोग अपने लिए बहुत ही उपयुक्त समझते हैं। वहाँ बहुत सी जमीन बेकार पड़ी है और प्रचुर प्राकृतिक सम्पत्तिका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। अराजकता और अनाचार आदि की भी वहाँ कमी नहीं है। तब फिर पीत वर्ण वालों की निगाह उन देशों पर क्यों न हो? यदि उनको अवसर मिल गया तो वे थोड़े ही समय में ऐसे आश्चर्यजनक रूप से सारे दक्षिण अमेरिका में अपना अधिकार कर लेंगे जिसकी इतिहास में समता न हो सकेगी।

इधर जापान की पर राष्ट्रीय नीति सदा यही रही है कि जिस प्रकार हो, अपने साम्राज्य की वृद्धि की जाय और पीत वर्ण-वालों के रहन के लिए और अधिक देश हस्तगत किये जायँ। इसलिए लैटिन अमेरिका पर उसकी पूरी-पूरी नजर है। बहुत दिनों से जापानी राजनीतिक इस लैटिन अमेरिका वाले प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में चीनियों ने आगे बढकर उनका काम और भी प्रशस्त कर दिया था। उस समय बहुत से चीनी आकर पेरू में बस गये थे उनकी भीषण वृद्धि देख कर पेरूवाले इतना घबरा गये थे कि उनको अनेक प्रकार के कानून बनाकर चीनियों का वहाँ आना रोकना पड़ा था। जो बेचारे चीनी कुली वहाँ जाकर बसे थे, उनका रक्षक और समर्थक कोई नहीं था। लेकिन इतना होने पर भी उन्होंने वहाँ यथेष्ट सफलता प्राप्त की थी। यह देखकर जापानियों का हौसला और भी बढ़ गया। काउण्ट ओकुमा ने अमेरिका के प्रसिद्ध समाजशास्त्र-वेत्ता प्रोफेसर राससे कहा था कि दक्षिण अमेरिका में और

विशेषतः वहाँ के उत्तरी भागों में हमारी बढ़ती हुई प्रजा को बहुत अधिक स्थान मिलेगा। अपने देशवासियों से ओकुमा ने एक बार कहा था कि जापानी सारे संसार में टिड्डी दल की तरह फैल जायँगे. वे पहले उत्तर अमेरिका के तटों पर उतरेंगे और सब वहाँ से सारे मध्य तथा दक्षिण अमेरिका में फैल जायँगे। लैटिन अमेरिका के देश तो ओकुमा को बहुत अधिक पसन्द थे; क्योंकि वे समझते थे कि उन देशों पर जापानियों का बहुत ही सहज में प्रभाव पड़ सकता था।

अब तक तो जापानी लैटिन अमेरिका के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विचार ही कर रहे थे, पर अब उन्होंने उन विचारों के अनुसार थोड़ा बहुत काम करना भी आरम्भ कर दिया है। दक्षिण अमेरिका के पश्चिम तट के देशों में जापानी व्यापारियों आदि की संख्या दिन पर दिन बढ़ती जाती है। वहाँ के बाजार अभी से जापानी माल से भरने लगे हैं। जापानी महाजन वहाँ अनेक प्रकार के अधिकार और सुभीते प्राप्त करने के उद्योग में लगे हुए हैं। अमेरिका के संयुक्त राज्यों को यह देखकर चिन्ता हो रही है और वे इस बात का उद्योग कर रहे हैं कि मेक्सिको आदि देशों में जापानियों को किसी प्रकार के अधिकार न मिलने पावें।

अभी लैटिन अमेरिका में जापान कोई बहुत बड़ी कारवाई नहीं कर रहा है। अभी तो वहाँ की नाप-जोख ही उसने शुरू की है। अभी वह वहाँ के लिए अपना कार्यक्रम बना रहा है। हाँ आगे चलकर वह कार्रवाई भी करने लगेगा। वह अभी से अपनी कार्रवाई शुरू कर देता, पर अमेरिका के बाधक होने के कारण ही वह अभी कुछ रुक रहा है। वह अच्छी तरह समझता है कि

यदि हम दक्षिण अमेरिका के देशों पर अधिकार करना चाहेंगे तो उसके पहले हमें अमेरिका के संयुक्त राज्यों से लोहा बजाना पड़ेगा। अभी वह अमेरिका के साथ लड़ना नहीं चाहता; क्योंकि पूर्वी एशिया में ही अभी उसे कई काम दिखाई पड़ते हैं। तो भी वह समय की प्रतीक्षा में है। ज्यों ही वह उपयुक्त समय देखेगा, त्यों ही वह अपना काम कर गुजरेगा। लैटिन अमेरिका में उसने बहुत से लोगों को अपना पक्षपाती और समर्थक भी बना लिया है। अमेरिका के संयुक्त-राज्यों ने अनेक ऐसे नियम बनाये हैं जो रक्त वर्णवालों तथा वर्ण संकरों के मार्ग में बहुत बाधक होते हैं। इसलिए वे लोग अमेरिका के विरोधी हो रहे हैं। वे मनरो-सिद्धान्त को अपने लिए हानिकारक समझते हैं और जापानियों को अपना सहायक मानते हैं वे यह भी समझते हैं कि इन गोरों के अत्याचार से अन्य वर्णों के लोगों को यदि कोई बचा सकता है, तो वह जापान ही बचा सकता है।

मेक्सिको में जापान धीरे-धीरे अपनी कार्रवाई करता चलता है। वहाँ की तीन बातें उनके लिए बहुत ही उपयुक्त हैं। एक तो यह कि वहाँ वाले अमेरिकन संयुक्त राज्यों के घोर विरोधी हैं। दूसरे यह कि वहाँ के मेस्टिजो गोरों से बहुत घृणा करते हैं। और तीसरे यह कि वहाँ के रक्त वर्णवालों में जातीयता के भावों का विकास और प्रचार हो रहा है। इधर कुछ दिनों से मेक्सिको की अवस्था बहुत ही खराब हो रही है। वहाँ भीषण विद्रोह और मार-काट हो रहा है। वहाँ के मेस्टिजो तो गोरों के शत्रु हो रहे हैं और रक्त वर्णवाले गोरों के भी शत्रु हो रहे हैं और मेस्टिजो के भी। १८४७ में अमेरिका के संयुक्त राज्यों ने मेक्सिको के साथ

जो युद्ध किया था, उसे मेक्सिको वाले अभी तक भूले नहीं है। वे उसका बदला चुकाना चाहते हैं। और संयुक्त राज्यों से अपने वे प्रदेश वापस लेना चाहते हैं, जो उस समय उनसे छीन लिये गये थे। जब युरोप में महायुद्ध आरम्भ हुआ, तब अमेरिका के संयुक्त राज्य युद्ध के लिए बिलकुल तैयार नहीं थे। यह देखकर मेक्सिको-वालों ने उनके विरुद्ध भीषण विद्रोह खड़ा कर दिया था। विद्रो-हियों ने दक्षिण मेक्सिको के निवासियों में घोर असन्तोष उत्पन्न किया, दक्षिण के हबशियों को भी भड़काया और टेक्सा में भी अशान्ति उत्पन्न की। वे चाहते थे कि अमेरिकन संयुक्त राज्यों के दक्षिण के कुछ प्रदेश तो फिर से मेक्सिको में मिला लिये जायँ और शेष कुछ प्रदेशों में कृष्ण वर्ण वालों का प्रजातंत्र स्थापित कर दिया जाय। इस काम के लिए वे जो सेना संघटित करना चाहते थे, उस में वे गोरों को बिलकुल नहीं रखना चाहते थे। उनका यह भी विचार था कि अमेरिकन संयुक्त राज्यों के दक्षिणी प्रान्तों की गोरी प्रजा एक दम कतल कर दी जाय। पर मेक्सिको वालों के ये विचार कार्य रूप में परिणत न हो सके और उनका विद्रोह सहज में ही दबा दिया गया।

यद्यपि उस समय मेक्सिको वालों को विद्रोह में सफलता नहीं हुई, तथापि उस विद्रोह से इतना पता अवश्य चलता है कि वहाँ के निवासी गोरों के घोर विरोधी हैं। उस विद्रोह के नेता ऐसे वैसे नहीं, बल्कि बहुत समझदार और प्रभावशाली लोग थे। इधर कुछ दिनों से मेक्सिको में गोरे अमेरिकनों पर भी खूब आक्रमण होते हैं। वहाँ के समाचार-पत्र तो खुले आम लोगों को अमेरिका के विरुद्ध भडकाते हैं और स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि इन अमेरि-

कनों को जहाँ पाओ, वहीं उनको मार डालो, उनकी आँखे निकाल लो, उनका सिर तोड दो, आदि आदि ।

जापानियों के लिए ये सब बातें बहुत ही अनुकूल पड़ती है । मेक्सिको के रक्त वर्णवालों के ऐसे भावों से वे यथेष्ट लाभ उठाना चाहते हैं और इसीलिए समय समय पर उनको उत्तेजित भी करते रहते हैं । वे रक्त वर्ण वालों को अपनी ओर मिलाने के लिए कहते हैं कि हम दोनों जातियों में तो बहुत कुछ समानता है और किसी समय हम दोनों बिलकुल एक थे । पर बीच में अलग हो गये थे और एक दूसरे को भूल गये थे । १९१४ के आरंभ में मेक्सिको का एक राजदूत राजनीतिक उद्देश्य से जापान भी गया था । वहाँ उसका खूब सत्कार हुआ था और दोनों देशों के निवासियों में मित्र-भाव स्थापित करने के अनेक उद्योग किये गये थे । महायुद्ध के समय जापान और मेक्सिको में प्रायः आपसदारी का संबंध था । जहाँ तक संसार को मालूम है, अभी तक दोनों देशों में कोई गुप्त समझौता नहीं हुआ है । पर फिर भी मेक्सिको के एक लेखक का कहना है कि १९१२ में ही मेक्सिको के राष्ट्रपति मड़ेरो ने दक्षिण अमेरिका के अन्यान्य प्रजातंत्रों तथा जापान के साथ समझौता कर लिया था कि आवश्यकता पड़ने पर सब लोग मेक्सिको की सहायता करेंगे । यह भी कहा जाता है कि जब मेक्सिको नगर में आंतरिक विद्रोह के कारण बारह दिन तक भीषण मार-काट होती रही और अंत में यह अफवाह फैली कि अमेरिका के संयुक्त-राज्य बीच में हस्तक्षेप करना चाहते हैं, तब राष्ट्रपति मडेरोने कहा था कि अभी शायद अमेरिकन सरकार को यह मालूम नहीं है कि इस बार उसको मेक्सिको से नहीं बल्कि

जापान से काम पड़ेगा। जो हो, पर इसमें संदेह नहीं कि जापान वालों ने रक्त वर्ण वालों को बहुत कुछ अपनी ओर मिला लिया है और वे गोरों के विरोधी तो पहले से हैं ही।

जापान के साथ चाहे मेक्सिको का कोई समझौता हुआ हो और चाहे न हुआ हो, पर असल बात यह है कि मेक्सिको वाले अमेरिका से बहुत नाराज़ हैं। यदि कभी कोई भारी झगड़ा खड़ा होगा तो मेक्सिको चाहे जापान को सहायता दें या न दें, पर वह अमेरिका को अवश्य ही किसी प्रकार की सहायता न देगा। अमेरिका के दूसरे शत्रु देशों के साथ भी मेक्सिको की मित्रता है। मेक्सिको में जो जापानी रहते हैं, वे समय समय पर ऐसी बातों से भी अपना कुछ न कुछ काम निकाल ही लेते हैं। और कुछ नहीं तो मेक्सिको वालों का मत ही अपनी ओर खींच लेते हैं। १९१६ में जब मेक्सिको में उपद्रव खड़ा हुआ था, उस समय वहाँ के कुछ प्रमुख जापानियों ने अपने दूसरे देशभाइयों के नाम एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था। उस घोषणा-पत्र में कहा गया था कि मेक्सिको हमारा मित्र राष्ट्र है। उसके साथ हमारा घनिष्ट व्यापारिक सम्बन्ध है। हमारी तरह वह भी वीरों की जाति है। वह अत्याचारी अमेरिकनों का प्रभुत्व कभी सहन न करेगी। यदि किसी ज़बरदस्त राष्ट्र के साथ उसका झगड़ा हो तो उस समय हम उसको छोड़ नहीं सकते। मेक्सिको वाले अपनी रक्षा करना तो जानते हैं, पर उनको सहायता की आवश्यकता है। हम उनको वह सहायता पहुंचा सकते हैं। यदि अमेरिकन गोरे मेक्सिको पर आक्रमण करेंगे और कैलिफोर्निया के तट पर अधिकार कर लेंगे तो जापानी व्यापार और जापानी जल-सेना बड़े संकट

में पड़ जायगी। उस दशा में हम लोग अमेरिका से निकाल दिये जायँगे। पर हम लोग मेक्सिको को पूरी पूरी सहायता देंगे। उनको सहायता देना हमारा कर्तव्य है; क्योंकि अमेरिकन गोरे हमारे शत्रु हैं। उन्होंने हमारे किनारों के पास के हवाई और फिलिपाइन्स टापुओं पर अधिकार कर लिया है और वे अब हमारे देखते देखते एक ऐसे राष्ट्र को कुचल डालना चाहते हैं, जो हमारा मित्र है और जो आगे चल कर हमारा साथी हो सकता है। साथ ही वे हमारा व्यापार भी नष्ट करना चाहते हैं और हमारी जल-शक्ति को भी संकट में डालना चाहते हैं। इसलिए मेक्सिको की हर तरह से सहायता करना हमारा परम धर्म है।

अमेरिका के रक्त वर्ण वाले भी गोरों से घबरा गये हैं और जापान की सहायता से अपना उद्धार करना चाहते हैं। पर कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो जापानियों की विजय में बड़ा भारी संकट देखते हैं। वे समझते हैं कि इस समय तो जापान मीठी मीठी बातें करके रक्त वर्ण वालों को फुसला लेगा और अपना काम निकाल लेगा; और जब उसका काम निकल जायगा, दक्षिण अमेरिका के अनेक देशों पर उसका पूर्ण अधिकार हो जायगा, तब वह भी रक्त वर्ण वालों के साथ वैसा ही दुर्व्यवहार करेगा जैसा गोरे करते हैं। जापान आज कल जिस ढंग से चल रहा है, उसे देखते हुए यह कोई विशेष आश्चर्य की भी बात नहीं है। इसीलिए चिली, आर्जेंटाइन और पेरू आदि के गोरे अधिकारी जापानियों के घोर विरोधी हैं और उन्हें यथासाध्य अपने देश में घुसने नहीं देते। इसलिए जहाँ एक ओर जापानी अपना काम निकालने के लिए तरह तरह की चालें चल रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर बहुत

गोरे उनका विरोध भी कर रहे हैं और स्पष्ट रूप से कहते हैं कि हमें हर तरह से जापानियों का विरोध करना चाहिए और दक्षिण अमेरिका के देशों को उनकी साम्राज्य-लिप्सा का शिकार न होने देना चाहिए।

प्रोफेसर रास का मत है कि यदि दक्षिण अमेरिका में एशिया वालों को आने से रोका न जाय तो बहुत सम्भव है कि इस शताब्दि के अन्त में वहाँ पचीस तीस लाख एशियाई और उनकी सन्तानें बढ़ जायँगी। यदि ऐसा हुआ तो दक्षिण अमेरिका के भविष्य में बड़ा भारी परिवर्तन हो जायगा। आज कल यूरोप के राजनीतिज्ञ सोचते हैं कि आगे चल कर हमारे यहाँ की प्रजा दक्षिण अमेरिका में अच्छी तरह रह और बहुत अधिक संख्या में बढ़ सकेगी पर यदि एशिया वाले वहाँ जाकर बस जायँगे तो फिर यूरोप वालों की वहाँ गुजर न हो सकेगी। मेस्टिजो लोगों के कुशासन से वे अपनी प्रजा को निकालने का जो विचार कर रहे हैं, वह भी पूरा न हो सकेगा गोरों को या तो अपनी जन-संख्या की वृद्धि रोकनी पड़ेगी और या अपने लिए कोई और स्थान ढूँढना पड़ेगा। क्योंकि अमीर गोरे सदा दरिद्र एशिया वालों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करने से घबराते हैं। और फिर दक्षिण अमेरिका ईसाइयों के हाथ से भी निकल जायगा और वहाँ के कुछ प्रजातंत्र राज्य एशिया वालों के अधिकार में चले जायँगे।

प्रोफेसर रास का यह भी मत है कि यदि दक्षिण अमेरिका में एशियावालों का प्रभुत्व हो जायगा, तो फिर रक्त-वर्ण वालों की कुछ भी उन्नति न हो सकेगी और एक प्रकार से उनका अन्त हो जायगा। उन्नत जापानियों और चीनियों के मुकाबले में रक्त वर्ण

के लोग किसी प्रकार न ठहर सकेंगे। एशिया वाले बात बात में रक्त-वर्ण वालों को दबा कर परास्त करेंगे, उनकी उन्नति का प्रत्येक मार्ग रोक देंगे और इस समय रक्त-वर्ण वालों के पास जो जगहें या पद हैं, उनसे भी उनको निकाल देंगे। अनेक अंशों में रक्त-वर्णवालों की अवस्था भारतीय शूद्रों के समान हो जायगी। उन्हें खराब से खराब जमीनें जोतने बोने के लिए मिलेंगी और छोटे तथा तुच्छ काम करने पड़ेंगे। उस दशा में वे निराश होकर और भी अधिक दुर्व्यसनों में फँस जायँगे और सब प्रकार से नगण्य हो जायँगे।

बस लैटिन अमेरिका की वर्तमान अवस्था यही है। वहाँ भी राजनीतिक प्रश्न उतने महत्व का नहीं है जितने महत्व का वर्ण-सम्बन्धी प्रश्न है। आज से चार सौ वर्ष पहले स्पेन-वालों ने रक्त-वर्णवालों पर जैसी पूर्ण विजय प्राप्त की थी, उससे अधिक पूर्ण विजय कदाचित् और कोई हो ही नहीं सकती। उस समय गोरे विजेताओं के सामने रक्त-वर्ण वाले बिलकुल पशुओं के समान हो गये थे। रक्त वर्ण वाले अपनी सभ्यता आदि का भी नाश कर चुके थे और गोरों के हाथ की कठपुतली बन गये थे। लेकिन फिर भी रक्त-वर्ण का अंत नहीं हो सका और उनमें कुछ न कुछ जातीयता का भाव बना ही रहा। फिर भी वहाँ के देशों में रक्त-वर्ण वालों की ही संख्या अधिक थी। कृष्ण-वर्ण वालों को वहाँ ले जाकर गोरों ने अपने हक में और भी बुरा किया। वहाँ जाकर बसने-वाले गोरों की संख्या बहुत ही कम थी। और जो गोरे वहाँ गये भी थे, उन्होंने अन्य वर्णों के लोगों के साथ विवाह-सम्बन्ध करके अपना और भी अधिक नाश कर लिया। और सबके अंत

में जो गोरे बच रहे वे, उन्होंने आपस में लड़ भिड़कर अपना और भी अधिक नाश कर लिया।

अब झगड़ा बढ़ा, तब गोरों ने अधगोरों की सहायता लेकर विजय प्राप्त की। पर उनकी विजय हो जाने पर अध-गोरे अपना पुरस्कार माँगने लगे। अब एक नया झगड़ा खड़ा हो गया जिसमें अध-गोरों की विजय हुई और उनके हाथ में राजनीतिक अधिकार चले गये। उन अध-गोरों ने रक्त तथा कृष्ण-वर्ण वालों से सहायता ली थी, इसलिए अब उन लोगों के भी बढ़ने की बारी आ गई। जब रक्त तथा कृष्ण वर्ण-वालों का एक नया आन्दोलन खड़ा हो गया है। यदि उनका यह आन्दोलन सफल हो गया तो फिर गोरों का वहाँ कहीं ठिकाना न लगेगा। इधर सौ वर्षों से यही हो रहा है कि लैटिन अमेरिका में गोरों का प्रभुत्व दिन पर दिन घटता जाता है और रक्त तथा कृष्ण-वर्ण वालों का बल बराबर बढ़ता जाता है।

पर लक्षणों से यह भी जान पड़ता है कि कदाचित् रक्त और कृष्ण वर्ण वालों के हाथ से भी लैटिन अमेरिका निकल जाय। या तो उस पर गोरों का अधिकार हो जाय और या पीत वर्ण वालों का। क्योंकि रक्त तथा कृष्ण वर्ण वाले अभी तक अपनी किसी प्रकार की योग्यता का कोई प्रमाण नहीं दे सके हैं। उनकी अयोग्यता के कारण जो स्थान खाली होगा, उसकी पूर्ति की चिंता में अभी से लोग लगे हैं और अपनी अपनी ओर से तैयारियाँ कर रहे हैं।

लैटिन अमेरिका की दशा भी अनेक अंशो में आफ्रिका की दशा से मिलती जुलती है। आफ्रिक़ा की भांति लैटिन अमेरिका

में भी अपने पैरों आप खड़े होने की योग्यता नहीं आई है। या तो वह गोरों के हाथ में जाय और या पीत वर्णवालों के हाथ में। गोरे तो वहाँ पहले से ही मौजूद हैं और उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के अनेक स्थानों को वे बिलकुल अपना बना चुके हैं। वहाँ के अनेक देश अब सभी बातों में गोरों के देश हो चुके हैं। पीत-वर्ण वाले यदि वहाँ अपना अधिकार जमाना चाहेंगे तो उनको वहाँ पूरा उद्योग करना पड़ेगा। उन्होंने वह उद्योग आरम्भ कर दिया है और कुछ स्थानों में अपने पैर भी जमा लिये हैं। उनके डर से गोरे अभी से अपने बचने के उपाय सोच रहे हैं और चाहते हैं कि पीत वर्ण-वाले यहाँ घुसने न पावें। उधर पीत वर्ण-वाले भी अपनी चालों से बाज नहीं आते। इस समय लैटिन अमेरिका के सम्बन्ध में गोरों और पीत वर्णवालों में एक प्रकार की प्रति-द्वन्द्विता चल रही है। अब देखना यह है कि दोनों में से विजय किसकी होती है। रक्त वर्णवाले इस समय पीत वर्णवालों के पक्ष पाती हो रहे हैं और गोरों को केवल अपने बल का भरोसा है। पर हम एक बात जानते हैं। अभी वहाँ चाहे गोरों का प्रभुत्व स्थापित हो जाय और चाहे पीत वर्णवालों की तूती बोलने लगे, पर एक बात बिलकुल निश्चित है। वह यह कि दोनों में से कोई रक्त वर्णवालों का समूल नाश न कर सकेगा। और जब तक रक्त वर्णवालों का अस्तित्व बना रहेगा, तब तक लैटिन अमेरिका का झगड़ा कभी खतम न होगा आज रक्त वर्णवाले अयोग्य ठहराये जाते हैं और कदाचित् कुछ अयोग्य हैं भी। पर इस समय जो लोग उनकी अयोग्यता से लाभ उठाकर उनके देश पर अधिकार करेंगे, उनसे आगे चलकर वे बदला लिये बिना न छोड़ेंगे। यह तो निश्चित ही

है कि कभी उनका समूल नाश न होगा; और यह भी निश्चित ही है कि वे कभी न कभी योग्य भी अवश्य ही होंगे। उनकी वर्तमान अयोग्यता कम से कम अब स्थायी नहीं रह सकती। अतः आगे चलकर जब वे योग्य होंगे, तब उन लोगों से अपना पूरा-पूरा बदला चुका लेंगे जो इस समय उनकी अयोग्यता से लाभ उठावेंगे। गोरों से वे असन्तुष्ट हो ही गये हैं और उनसे अपना पीछा छुड़ाने की चिन्ता में लगे ही हैं। इसी तरह आगे चलकर वे पीत वर्णवालों से भी, यदि पीत वर्णवालों का अधिकार उनके देशों पर हो गया तो, अपना पिण्ड छुड़ाना चाहेंगे। उस समय पीत वर्णवाले भी उनसे वैसे ही दुःखी हो जायँगे जैसे कि आजकल गोरे हैं। दूसरों के देशों पर अधिकार करने का परिणाम अच्छा नहीं होता। उससे सदा अशान्ति और कष्टों की वृद्धि ही होती है। अतः जो लोग यह चाहते हों कि संसार की अशांति और अधिक न बढ़े, यहीं उसका अंत हो जाय, उनको उचित है कि वे अयोग्य जातियों के देशों पर अधिकार करने का विचार कुछ कम कर दें और उन अयोग्य जातियों को योग्य बनाने की चिंता करें। पर योग्य बनाने का वह उद्योग वैसा नहीं होना चाहिए जैसा आजकल के गोरे करते हैं। अर्थात् उसकी ओट में स्वार्थ-साधन नहीं होना चाहिए। वह उद्योग सच्चे हृदय से होना चाहिए और संसार की सब जातियों को अपना भाई समझ कर होना चाहिए।

गोरों का प्रसार

(६)

सन् १५०० से लेकर १९०० तक संसार में गोरों का जितना अधिक प्रसार हुआ है, उसकी उपमा संसार के लिखित इतिहास में नहीं मिल सकती। इस पुस्तक के आरम्भ में यह बतलाया जा चुका है कि गोरों का वास्तविक निवास-स्थान कहाँ कहाँ है और उनका राजनीतिक-प्रभुत्व किन किन देशों में है। संसार में इस समय जितने मनुष्य बसते हैं, उनमें से प्रायः एक तृतीयांश गोरे हैं। यह भी बतलाया जा चुका है कि सारे संसार में मनुष्यों के बसने योग्य जितना स्थान है, उसके दो ५ंच-मांश में तो गोरों की बसती है और सारे संसार का नौ दशमांश इन गोरों के राजनीतिक अधिकार में है। संसार की यह परिस्थिति विलक्षण और अभूत-पूर्व होने के साथ ही साथ असह्य भी है। आज तक कोई जाति न तो संख्या में इतनी बढ़ी थी और न अधिकार में ही।

गोरों के प्रसार के सम्बन्ध में एक और भी विलक्षण बात यह है कि इसका आरम्भ बिलकुल अचानक हुआ था और उनके विकास की गति बहुत ही तीव्र थी। कोलम्बस की यात्रा से दस ही वर्ष पहले कोई यह नहीं सकता था कि तीन चार सौ वर्षों के

अंदर ही गोरों का प्रताप इतना बढ़ जायगा और प्रायः सारे संसार पर उनका अधिकार हो जायगा। पन्द्रहवीं शताब्दि के अंत में गोरी जाति पश्चिमी और मध्य यूरोप, नार्वे, स्वीडन तथा यूरोपीय रूस के उत्तर पश्चिमी भागों में ही रहती थी। उस समय उनके रहने के देशों का क्षेत्र-फल आजकल के क्षेत्र-फल का केवल दशमांश ही, अर्थात् लगभग २०,००,००० वर्ग मील था। उस समय उनकी जन-संख्या भी आजकल की जन-संख्या का लगभग एक षष्ठमांश ही थी। उससे प्रायः सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले प्लेग और मरी आदि के कारण यूरोप की जन-संख्या बहुत ही घट चुकी थी और अनेक युद्धों में भी गोरों का बहुत अधिक नाश हो चुका था। उस समय वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अवस्था भी ऐसी ही थी जो जन-संख्या की वृद्धि के लिए कुछ विषेश अनुकूल नहीं थी। यूरोपवालों ने धार्मिक युद्ध आरम्भ करके अपना प्रसार चाहा, पर उसमें उनको पूरी-पूरी विफलता ही हुई थी। प्रसार के बदले उनका और ह्रास ही हुआ था; क्योंकि एशिया के धूसर तथा पीत वर्ण के लोग प्रायः यूरोप में पहुँचकर गोरों पर आक्रमण किया करते थे। पहले तो रोम-साम्राज्य के पतन-काल में हूणों ने, बीच में अरबों ने और अन्त में मंगोलों और तुर्कों ने यूरोप पर अनेक आक्रमण करके वहाँ के निवासियों को खूब तंग किया था। इस बीच में यूरोपवालों ने बड़ी कठिनता से अपनी स्वाधीनता की रक्षा की थी। तो भी उसकी सीमा पर के कुछ प्रदेश एशियावालों के अधिकार में आ ही गये थे। उदाहरणार्थ सन् १४८० में तुर्क लोग बरा-बर विजय प्राप्त करते हुए यूरोप के दक्षिण-पूर्वी भागों में बढते जा रहे थे, रूस का बहुत बड़ा अंश

तातारों के हाथ में चला गया था और मूर लाग दक्षिण स्पेन पर अधिकार करके बैठे हुए थे।

पन्द्रहवीं शताब्दि के अन्त में गोरी जाति की जो अवस्था थी, उसे देख कर तो यही कहना पड़ता है कि उस समय उसका प्रायः अन्तिम काल आ गया था। उस समय की स्थिति देखते हुए कम से कम उसका भविष्य अच्छा तो कभी कहा ही नहीं जा सकता था। उन दिनों या तो यूरोप की आबादी ज्यों की त्यों रहती थी या घटती जाती थी। बाहर से बड़े बड़े प्रबल शत्रु आ कर उस पर आक्रमण किया करते थे और स्वयं वहाँ की प्रजा में भी अनेक प्रकार के गृह-विवाद तथा युद्ध आदि चल रहे थे। इन सब बातों को देखते हुए उस समय कौन कह सकता था कि यही गोरी जाति, जो इस समय अनेक प्रकार की दुर्दशा भोग रही है, तीन चार सौ वर्षों के अन्दर ही सारे संसार की स्वामिनी हो जायगी? पर अन्त में हुआ यही।

पर अचानक दो ही तीन वर्षों में सारी परिस्थिति बदल गई। १४९२ में कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया, १४९४ में वास्को डी गामा ने आफ्रिका की परिक्रमा करके भारत का मार्ग ढूँढ निकाला। कोलम्बस भी वास्तव में भारत का ही मार्ग ढूँढने के लिए निकला था, पर संयोगवश उसके द्वारा अमेरिका का आविष्कार हो गया। तात्पर्य यह है कि गोरों के अभ्युदय का आरम्भ भारत पहुँचने की चिंता से ही हुआ था। उससे पहले यूरोप वाले समुद्र से बहुत घबराते थे। पर कोलम्बस और वास्को-डी गामा की कृपा से पलक मारते ही उनकी वह घबराहट दूर हो गई और वे बड़ी बड़ी समुद्री यात्रायें करने लगे। बात की

बात में उन्होंने समुद्र पर अधिकार कर लिया और समुद्र तो संसार के प्रभुत्व की कुंजी थी। अतः समुद्र पर अधिकार होते ही सारे संसार पर उनका अधिकार हो गया।

पन्द्रहवीं शताब्दि से पहले तो यूरोप के गोरों को एशिया की केवल बहुत ही वीर जातियों से काम पड़ता था। एशिया के बड़े बड़े योद्धा और बड़े बड़े उद्योगी पुरुष युद्ध अथवा व्यापार करने के लिए यूरोप पहुँचा करते और यूरोप वालों को बराबरी पर उनका मुकाबला करना पड़ता था। यूरोप वाले न तो मुकाबले के युद्ध में ही एशिया वालों के सामने ठहर सकते थे और न व्यापार में ही उनके साथ प्रतिद्वन्द्विता कर सकते थे। बेचारे करते कहाँ से। वे उतने अधिक सभ्य और योग्य तो थे ही नहीं। पर हाँ, उनका भाग्य बहुत प्रबल था, इसलिए इन दो बड़े आविष्कारों के बाद गोरों को बहुत सुभीता हो गया। सारे संसार की अनेक सीधी सादी जातियाँ उनके सामने आ पड़ीं और वे अनेक प्रकार से उन पर विजय प्राप्त करने लगे। कहीं कल से, कहीं छल से और कहीं बल से वे लोगों के देश और सम्पत्ति आदि पर अधिकार करने लगे और उनको लूट लूट कर अपना घर भरने लगे।

मध्य युग में गोरों ने बड़े बड़े कष्ट और भारी भारी विपत्तियाँ सही थीं। इसलिए उनमें कुछ सहन-शक्ति भी आ गई थी और वे कुछ अनुभव भी प्राप्त कर चुके थे। इसके अतिरिक्त संसार का यह भी एक नियम है कि बहुत अधिक कष्ट के उपरांत सुख भी होता है। गोरों को अपने प्रसार का अनायास एक बहुत ही अच्छा अवसर मिल गया था। उन्होंने उस अवसर का सदुपयोग करके संसार को मानों एक नया पाठ पढ़ा दिया। एशिया

वालों की मार खा खा कर यूरोप वाले मजबूत तो हो ही चुके थे और उनकी कृपा से सभ्यता के मार्ग पर भी कुछ कुछ चल निकले थे। ऐसी दशा में यदि कृष्ण और रक्त-वर्ण के लोग उनसे डर गये, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

जिस प्रकार छत्ते में से शहद की मक्खियाँ निकल निकल कर सारा जंगल भर देती हैं, उसी प्रकार अब ये गोरे भी यूरोप से निकल निकल कर सारा संसार भरने लगे। बस फिर क्या था! यूरोप की मरती हुई गोरी जाति में एक नये जीवन का संचार हो गया नित्य नये विचार उत्पन्न होने लगे, नित्य नये साधन निकलने लगे और नित्य नये कल-पुरजे बनने लगे। इस प्रकार घात-प्रतिघात से यूरोप वालों की दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति होने लगी। जिन स्पेनियों और पुर्तगालियों ने आरम्भ में समुद्र पर विजय प्राप्त करके नये नये महादेशों का आविष्कार किया था, वे तो सुस्ती और अयोग्यता आदि के कारण पिछड़ गये और उनके स्थान पर यूरोप के उत्तरी देशों के निवासियों ने पहुँच कर सारे संसार पर अपना प्रभुत्व जमाना आरंभ कर दिया। चार सौ वर्ष तक वे लोग बराबर आगे बढ़ते गये। इस बीच में उनका कदम कभी नहीं रुका। इस निरन्तर और अविरत प्रसार का परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दि के अंत में प्रायः सारा संसार गोरों के अधिकार में आ गया।

लगातार चार सौ वर्षों तक उन्नति और अधिकार वृद्धि करते करते अंत में गोरों को यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब हमारा प्रसार कभी रुक नहीं सकता। अब दिन पर दिन हमारी उन्नति होती जायगी और हमारे अधिकार बढ़ते जायँगे। उन्नति के अभि-

मान ने उनको यह सोचने का अवसर ही न दिया कि संसार परि-
वर्तनशील है और इसमें सदा कोई अधिकारारूढ़ नहीं रह सकता।
उन्होंने अवश्य ही बड़े बड़े दार्शनिक और बड़े बड़े इतिहासज्ञ
उत्पन्न किये, पर कोई उनको यह न समझा सका कि जिसकी उन्नति
होती है, उसीकी अवनति भी होती है, जो ऊपर चढ़ता है, वही
नीचे भी गिरता है और जो आगे बढ़ता है, वहीं पीछे भी हटता
है। परन्तु उनके न समझने के कारण प्रकृति तो अपना काम
रोक ही नहीं सकती थी। विवश हो कर ईश्वर ने ही गोरों को
समझाने बुझाने का काम अपने हाथ में लिया। पर अधिकार-मद
जल्दी किसी को ठीक मार्ग पर आने नहीं देता। और फिर यदि
मनुष्य बीच में ही सँभल कर ठीक मार्ग पर आ जाय तो फिर
आगे चल कर उसका पतन और नाश कैसे हो? इधर बीस-बाईस
वर्षों में प्रकृति ने गोरों को जो चेतावनी दी है, उसकी अवहेला
उन्होंने इसीलिए की है। सन् १९०४ में रूस-जापान युद्ध होने से
पहले यदि ढूँढा जाता तो लाख पचास हजार गोरों में से भी
शायद ही एकाध ऐसा गोरा निकलता जो यह समझता होता कि
गोरों का यह प्रसार यह उन्नति कभी रुक भी सकती है। तब
फिर अवनति या पतन की कल्पना तो बहुत दूर की बात है।
तीन चार सौ वर्षों की उन्नति ने तो उनको अंधा कर डाला
था। भविष्य की ओर उनकी दृष्टि जाती भी तो क्यों
कर जाती! अमेरिका, आस्ट्रेलिया और साइबेरिया के आदिम
निवासियों को इन गोरों ने कीड़े मकोडे समझ कर या तो
मार डाला था या किसी प्रकार उनको दूर करके अपना मार्ग
निष्कण्टक करते हुए उन प्रदेशों को अपना निवास-स्थान बना लिया

था। एशिया और आफ्रिका को अपने अधिकार में करके उन्होंने करोड़ों मनुष्यों को अपना गुलाम बना लिया था और मुट्ठी भर गोरे उनका शासन करने लग गये थे। ये दोनों घटनाएँ देखकर गोरों को अपनी अजेयता का पूरा पूरा विश्वास हो गया था और उन्होंने समझ लिया था कि अब सारे संसार पर सदा के लिए हमारा अधिकार हो गया अब हम जिसके साथ जैसा चाहेंगे, वैसा व्यवहार करेंगे। कोई हमारे सामने चूँ तक न कर सकेगा। संसार के सब लोग हमारे सामने सिर झुका ही रहे हैं और हमारे अधिकार में आ ही चुके हैं। अब किसकी मजाल है जो हमारे सामने सिर भी उठा सके? वे सोचते थे कि संसार के गरम देशों में अब तक अन्य वर्णों के लोगों का अस्तित्व हमने केवल इसी लिए रहने दिया है कि वहाँ हम बस तो सकते ही नहीं। और फिर हमें गुलामी के लिए कुछ आदमियों की भी आवश्यकता होगी ही। और यह बावत एक प्रकार से ठीक भी है। यदि जल-वायु की दृष्टि से सारा संसार इन गोरों के बसने के योग्य होता तो बहुत सम्भव था कि इन चार सौ वर्षों में वे अन्य समस्त वर्णों का समूल नाश कर देते और तब सारे संसार में केवल गोरे ही गोरे दिखाई देते। पर कठिनता यह थी कि सारा संसार उनके बसने के योग्य नहीं था। जो देश उनके बसने के योग्य थे, उनको तो उन्होंने वहाँ के आदिम निवासियों से खाली करा ही लिया और जो देश उनके बसने के योग्य नहीं थे, उन पर वे राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके ही सन्तुष्ट हो रहे। तो भी वे यही सोचते थे कि ये अन्य वर्ण वाले कभी हमारे विरुद्ध सिर उठाने का साहस भी न कर सकेंगे। और यदि कभी दुर्भाग्यवश सिर उठावेंगे भी तो उनको

पीस डालने में हमें अधिक विलम्ब न लगेगा। पर कुछ लोग ऐसे भी थे जो और आगे बढ़ गये थे। वे सोचते थे कि धीरे धीरे विज्ञान इतनी उन्नति कर लेगा कि गोरे लोग गरम देशों में रहने के उपाय भी निकाल लेंगे और गोरों को गरम देशों में रहने के कारण जो रोग होते हैं, वे रोग सदा के लिए विज्ञान की कृपा से समूल नष्ट हो जायेंगे। उस दशा में गोरों को खूब सुभीता हो जायगा और वे सारे संसार में पैर पसार कर सुखपूर्वक सो सकेंगे। संसार की और कोई जाति रह ही न जायगी। केवल गोरे गोरे रहेंगे। न किसी का डर और न किसी का खटका। चलो छुट्टी हुई!

अधिकार-मद और अज्ञान के कारण इन गोरों ने अनेक शास्त्रों के आधार पर अपने मतलब के तरह तरह के सिद्धान्त भी गढ़ लिये थे और उन सिद्धान्तों का मनमाना अर्थ लगाना भी आरम्भ कर दिया था। उनमें से एक सिद्धान्त यह भी था कि जो सबसे योग्य होगा, वही बच रहेगा। जो प्रबल होगा, उसी का अस्तित्व बना रहेगा। बस, इस सिद्धान्त के सामने यह सिद्धांत कब ठहर सकता था कि संसार की सभी चीजें नश्वर हैं, और जो बढ़ता है वह घटता भी है? वे समझते थे कि जो सबसे अधिक योग्य और प्रबल होता है वही सर्वश्रेष्ठ भी होता है। पर वे यह समझने का कष्ट नहीं उठाते थे कि इस परिवर्तनशील संसार में और बातों के साथ साथ परिस्थिति आदि में भी परिवर्तन हुआ करता है और एक परिस्थिति में जो सबसे अधिक योग्य होता है, दूसरी परिस्थिति में वह सबसे अधिक निकृष्ट भी हो सकता है। और यदि परिस्थिति किसी दुर्बल के ही अनुकूल हो, तो फिर हर तरह से उस दुर्बल की ही उन्नति होती रहती है। ठीक इसी

नियम के अनुसार स्वयं गोरों की भी उन्नति हुई थी। उस समय परिस्थिति उनके अनुकूल थी, इसलिए वे इतने उन्नत हो गये। पर उनकी समझ में यह बात नहीं आई थी, और कदाचित् अब तक भी नहीं आई है कि अब परिस्थिति उनके प्रतिकूल होती जा रही है। इन गोरों ने अर्थशास्त्र के अनेक बड़े बड़े और बढ़िया सिद्धान्त ढूँढ निकाले और उसकी बहुत उन्नति की। उसी अर्थशास्त्र का एक सिद्धान्त यह भी है कि जब बाजार में खराब सिक्का चलने लगता है, तब अच्छा सिक्का आपसे आप गायब हो जाता है। अर्थात् उस दशा में लोग अच्छे सिक्के को तो दबा दबा कर घर में रखने लगते हैं और बाजार में केवल खराब सिक्के ही रह जाते हैं। इस सिद्धान्त को तो गोरे खूब अच्छी तरह जानते थे, पर स्वयं अपने सम्बन्ध में वे स्वप्न में भी उसका प्रयोग नहीं कर सकते थे। वे सोच ही नहीं सकते थे कि कभी किसी योग्य को कोई अयोग्य भी परास्त कर सकता है। पर संसार में ऐसा भी होता है और अवश्य होता है। एक योग्य के मुक़ाबले में योग्य बनना और योग्यता में उस पहले योग्य से बहुत बढ़ जाना बहुत कठिन होता है इसीलिए प्रकृति ने यह भी एक नियम बना रखा है कि जब योग्यता प्राप्त करके योग्य का मुक़ाबला करना कठिन हो जाय, तब अयोग्य ही किसी प्रकार योग्य पर विजय प्राप्त कर लिया करे। पर गोरे इन बातों को जान बूझ कर भी नहीं समझते थे और अपने आपको भीषण भ्रम में डाले हुए थे। वे जब तक चाहें, तब तक अपने आपको भ्रम में डाले रहें, पर प्रकृति को तो वे भ्रम में डाल सकते ही नहीं और न उसका काम ही रोक सकते हैं। इसलिए प्रकृति अपना काम कर रही है। आशा है कि

शीघ्र ही उनके भ्रम की भांति उनका अधिकार भी नष्ट हो जायगा। अपनी अजेयता के सम्बन्ध में गोरों को जो दृढ़ विश्वास था, वह तो रूस-जापान युद्ध के समय जापान की कृपा से दूर हो गया और उसके बाद से उनके अधिकार के नाश के लक्षण भी दिखाई देने लगे।

कुछ दिनों तक तो गोरों के लिए उनका अज्ञान ही लाभदायक था। पहले तो गोरों ने आफ्रिका और एशिया के अनेक भागों पर पूरा पूरा अधिकार किया और तब उसके बाद उन्होंने पूर्वी एशिया के पीत वर्ण को अपने अधिकार में लाने का विचार किया। यूरोप वाले चाहते थे कि हम लोग चीन को आपस में बाँट लें, और साईबेरिया का भक्षण करके रूस चाहता था कि प्रशान्त महासागर और जापान हमारे हाथ में आ जाय। गोरों का हौसला भी उस समय खूब बढ़ा-चढ़ा था और उनको अपने आप पर विश्वास भी पूरा पूरा था। इसलिए वे आगे बढ़ने के सिवा और कुछ जानते ही न थे। पर फिर भी उनमें थोड़े से समझदार अवश्य ऐसे थे जो यह समझ गये थे कि अब गोरों का और अधिक प्रसार नहीं हो सकता और उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ खड़ी होने वाली हैं। प्रोफेसर पियर्सन और मेरेडिथ टाउन्सेंड आदि ने इन गोरों को पहले ही सचेत करना चाहा था। पर गोरों ने या तो उनकी बातें सुन कर बुरा माना था, उनकी हँसी उड़ाई और या उनकी उपेक्षा की। मनुष्य का यह स्वभाव ही है कि जिस समय वह परम सुखी और प्रसन्न रहता है, उस समय यदि उसके सम्बन्ध में कोई व्यक्ति किसी प्रकार की अशुभ भविष्यद्-वाणी कहता है, तो उस मनुष्य को या तो बुरा मालूम होता है

और या वह उसकी बातों को हँसी में टाल देता है। बस, वही दशा उस समय गोरों की भी हुई थी। वे अपने सम्बन्ध में कोई अशुभ भविष्यद्वाणी सुनना ही नहीं चाहते थे। और जो कोई उनको जबरदस्ती सुनाना चाहता था, उससे वे बुरा मानते थे और उनकी उपेक्षा करते थे। कुछ थोड़े से ऐसे समझदार गोरे भी थे वे यह मानते थे कि इन लोगों की भविष्यद्वाणी ठीक होगी, पर जो यह समझते थे कि अभी इसमें बहुत विलम्ब है। ऐसा कोई नहीं था जो यह समझता हो कि गोरों का पतन बहुत ही समीप है और उस पतन की गति उनकी उन्नति की गति की उपेक्षा कहीं अधिक तीव्रतर और वेगपूर्ण होगी।

सन् १८९९ में मेरेडिथ टाउन्सेंड का यह विश्वास था कि शीघ्र ही सारे एशिया पर गोरों का इतना पूर्ण और प्रभावशाली राज्य स्थापित हो जायगा कि फिर एशिया वाले किसी प्रकार गोरों के अधिकार से निकल ही न सकेंगे। आफ्रिका की भांति एशिया को भी गोरे सदा के लिए आपस में बाँट लेंगे। एशिया वाले सदा के लिए यूरोप वालों के दास हो जायेंगे। पर जब बीसवीं शताब्दि के आरम्भ में रूस-जापान युद्ध हुआ और रूस परास्त हो गया, तब एशिया में विलक्षण जागृति उत्पन्न हुई, जिससे गोरों का मोह दूर हो गया और १९११ में ही टाउन्सेंड को अपना पुराना मत बदलना पड़ा। उसे कहना पड़ा कि अब एशिया में गोरों का राज्य अधिक समय तक नहीं रह सकता और शीघ्र ही उन्हें वहाँ से बोरिया-बन्धना बाँध खिसकना पड़ेगा। इधर दस बारह वर्षों की घटनाओं से उसके इस मत का और भी अधिक समर्थन होता जा रहा है और ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों त्यों

इस बात के अधिकाधिक प्रमाण मिलते जाते हैं कि एशिया में गोरों के प्रभुत्व के दिन समाप्ति पर आ रहे हैं। बात यह है कि १९०० में ही गोरों का प्रताप-सूर्य शीर्षबिन्दु तक पहुंच चुका था और तभी से वह ढलने लगा है। अब गोरे लाख उद्योग करें, पर उनके प्रताप सूर्य की नीचे की ओर की गति किसी प्रकार रुक नहीं सकती। आर्थर बन्दर पर जापानियों के गोले बरसने के साथ ही साथ गोरों के प्रभुत्व और अधिकार का ह्रास आरम्भ हो गया था। और इधर यूरोपीय महायुद्ध ने तो मानों एक प्रकार से उसकी पूर्ति का ही बीज बो दिया है।

पतन का आरम्भ

(७)

मानव-जाति के इतिहास में रूस जापान युद्ध एक ऐसी घटना है जिसका महत्व समय के बीतने के साथ ही साथ बराबर बढ़ता जाता है। उस युद्ध में और जो कुछ हुआ वह तो हुआ ही, पर साथ ही एक और बहुत बड़ी बात हुई। उस युद्ध से गोरों की प्रतिष्ठा को बहुत बड़ा आघात पहुंचा। पहले अन्यान्य वर्णों के लोग यही समझा करते थे कि गोरे अजेय हैं, युद्ध में कोई उन पर विजय नहीं प्राप्त कर सकता। पर उस युद्ध के कारण लोगों की वह भावना नष्ट हो गई और गोरों की अजेयता का भ्रम लोगों के हृदय से दूर हो गया। यही नहीं बल्कि गोरों के अनेक रहस्य भी लोगों पर प्रकट हो गये और उनके दोषों तथा दुर्बलताओं पर पड़ा हुआ परदा हट गया। लोगों के लिए उन पर टीका-टिप्पणी करने का मार्ग खुल गया और सारे संसार ने समझ लिया कि यदि पूरा पूरा उद्योग किया जाय, तो ये गोरे भी नीचा देख सकते हैं। यह कोई साधारण बात नहीं थी; और इसी कारण इस युद्ध का अन्य वर्ण वालों के लिए बहुत अधिक महत्व है।

जिस समय यह युद्ध हुआ था, उस समय लोगों ने उसका बहुत ही कम महत्व समझा था। विशेषतः गोरों की समझ में तो उस युद्ध का और भी कम महत्व आया था। अन्य वर्णों में भी बहुत ही थोड़े ऐसे समझदार और दूरदर्शी थे जो उसका ठीक ठीक महत्व समझ सके थे। गोरे तो बहुत दिनों से एक पर एक विजय प्राप्त करने के कारण मदान्ध हो रहे थे और उन्नीसवीं शताब्दि में अनेक देशों और जातियों को अपने अधिकार में कर चुके थे। उनकी संख्या भी बहुत अधिक बढ़ चुकी थी। सन् १५०० में कुल गोरों की संख्या ७,००,००,००० थी और उस समय सब के सब गोरे केवल यूरोप में ही बसते थे। इसके तीन सौ वर्ष बाद अर्थात् सन् १८०० में यूरोप में रहने वाले गोरों की संख्या दूनी से भी अधिक अर्थात् १५,००,००,००० हो गई थी। इसके अतिरिक्त यूरोप के बाहर अन्यान्य देशों में जो गोरे बसते थे, वे अलग थे। और उनकी संख्या भी १,००,००,००० थी। इस प्रकार तीन सौ वर्षों में गोरे दूने से भी अधिक हो गये थे। पर इसके उपरान्त सौ वर्षों में उनकी जो वृद्धि हुई, वह और भी आश्चर्यजनक थी। सन् १९०० में यूरोप में गोरों की आबादी ४५,००,००,००० हो गई थी और यूरोप के बाहर सारे संसार में १०,००,००,००० गोरे हो गये थे। इस प्रकार केवल सौ वर्षों में ही यूरोप में गोरों की संख्या तिगुनी और यूरोप के बाहर सारे संसार में दस गुनी हो गई थी। उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में सारे संसार में ५५,००,००,००० गोरे थे। अर्थात् चार सौ वर्षों में वे लगभल अठगुने हो गये थे। भला इस वृद्धि का कहीं ठिकाना है! पर उनकी यह वृद्धि इस दृष्टि से बिलकुल स्वाभाविक और

अनिवार्य ही थी कि सारे संसार पर उन्हींका राज्य था और संसार के सारे सुख भी मानों उन्हींके हो गये थे।

यूरोप के गोरों की जो वृद्धि हुई थी, उसमें सब से अधिक और परम आश्चर्यजनक वृद्धि अंग्रेजों की हुई थी। सन् १४८० में इंगलैण्ड की आबादी केवल २०,००,००० थी। यद्यपि मध्य-युग में अनेक युद्धों आदि के कारण प्रायः सारे यूरोप की आबादी बहुत कम हो गई थी, तथापि इङ्गलैण्ड की यह आबादी अपेक्षाकृत और भी कम थी। इसके एक सौ वर्ष बाद, महारानी एलिजबेथ के समय में इंगलैण्ड की आबादी बढ़ कर इससे ठीक दूनी अर्थात् ४०,००,००० हो गई। पर सन् १९०० में वहाँ की आबादी बढ़ कर ३,००,००,००० और सन् १९१० में ३,५०,००,००० हो गई थी। यह आबादी केवल इंगलैण्ड की थी और सारे ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लैंड में उस समय ४,५५,००,००० आदमी बसते थे। यह तो केवल इंगलैंड, स्काटलैंड और आयर्लैंड की बात हुई। पर इसी बीच में अंगरेज जाति संसार के कोने कोने में फैल गई थी और इस समय सारे संसार में १०,००,००,००० से कम अंगरेज नहीं है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से आधे के लगभग ऐसे अंगरेज या उनकी संतानें हैं जो अमेरिका के संयुक्त राज्यों में जा कर बस गई हैं। इस प्रकार लगभग चार सौ वर्षों में अंगरेजों की संख्या प्रायः पचास गुनी हो गई है।

उन्नीसवीं शताब्दि में गोरों की जन-संख्या में जो यह भीषण वृद्धि हुई थी उसके कई कारण थे। एक तो यह कि वे सारे संसार का राज्य पा जाने के कारण परम सुखी हो गये थे, और दूसरे

यह कि नये नये आविष्कार करके और ज्ञान-विज्ञान में यथेष्ट उन्नति करके गोरों ने प्राकृतिक साधनों आदि पर बहुत कुछ अधिकार प्राप्त कर लिया था। उनकी यह उन्नति साधारणतः यन्त्र-युग की क्रांति के नाम से प्रसिद्ध है। यह यन्त्र-युग की क्रांति अठारहवीं शताब्दि के अंतिम दशकों में आरम्भ हुई थी और तब से अब तक उसने संसार की व्यवस्था और रूप में बहुत ही शीघ्रता के साथ अनेक भीषण और आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिये हैं। जितने अधिक परिवर्तन इन सौ डेढ़ सौ वर्षों में हुए हैं, उतने आज तक और कभी नहीं हुए थे। अब तक मनुष्य की ऐहिक उन्नति क्रमशः विकास मात्र के रूप में हुआ करती थी, पर अब उसमें एकबारगी भीषण क्रांति हो गई थी। क्रांति-काल से पहले मनुष्य ने एक बारूद को छोड़ कर बहुत दिनों से और कोई नया ऐहिक बल नहीं प्राप्त किया था। इस क्रान्ति से पहले संसार में वैसे ही रथ और वैसे ही जहाज़ आदि देखने में आते थे, जैसे उससे हजारों वर्ष पहले काम में आते थे और उनका शिल्प आदि भी हजारों वर्षों से ज्यों का त्यों और प्रायः एक ही रूप से चला जाता था। पर सहसा संसार की सारी बातें बदल गईं। भाफ और बिजली के इंजिनों से सारा संसार भर गया, प्रकृति की गुप्त और भीषण शक्तियाँ मनुष्य की दासी हो गईं, प्रकृति के दुर्गम भाण्डार उसके लिए बिलकुल खुल गये, दूसरी ओर गमनागमन का प्रश्न ही संसार से उठ गया और सारा संसार मानों मनुष्य के करतलगत हो गया। उसने एक ऐसे नये संसार में प्रवेश किया जिसका पहले वाली पीढ़ियों को स्वप्न में भी अनुमान न था।

यहाँ उन्नीसवीं शताब्दि के मनुष्य से हमारा तात्पर्य केवल

गोरी जाति से है। संसार में यह भीषण परिवर्तन, यह विकट क्रान्ति केवल गोरों ने ही की थी। ये सब आविष्कार गोरों के ही किये हुए थे, और किसी ने रत्ती भर भी उसमें कोई सहायता नहीं की थी। और यही कारण है कि इन सब आविष्कारों से सब से पहले उन्हीं गोरों ने ही लाभ भी उठाया। संसार में जो यह नई व्यवस्था उत्पन्न हुई थी, उसमें दो बातें सर्व-प्रधान थीं। एक तो यह कि तरह तरह की नई कलें आदि बनने के कारण थोड़े से आदमी बहुत अधिक माल तैयार करने लग गये थे, और दूसरे यह कि स्वयं मनुष्य के एक स्थान से दूसरे स्थान तक आने जाने और माल-असबाब ले जाने तथा ले आने के अनेक सुगम साधन उत्पन्न हो गये थे। इसका परिणाम यह हुआ कि चीजें बनने भी किफायत में लगीं और उनके भेजने या मँगने में भी बहुत किफायत होने लगी। यूरोप मानों सारे संसार के लिए चीजें बनाने का कारखाना बन गया और सारे संसार का धन वहीं आ कर जमा होने लगा इसीके परिणाम-स्वरूप वहाँ की आबादी भी भीषण रूप से बढ़ने लगी। माल, पूँजी और आदमियों का यूरोप मानों गोदाम बन गया। वहाँ के लोग संसार के सभी भागों में कच्चा माल मँगा मँगा कर तरह तरह की चीजें तैयार करने लगे और उन चीजों को सारे संसार में भेज भेज कर वहाँ का धन अपने घर में भरने लगे। उन्नीसवीं शताब्दि के आरम्भ से अब तक गोरों ने, और विशेषतः यूरोप के गोरों ने जितना अधिक धन एकत्र किया है, उसका हिसाब लगाना तो दूर रहा, कदाचित् उसकी ठीक ठीक कल्पना भी नहीं हो सकती। हाँ सारे संसार के व्यापार की वृद्धि का हिसाब लगाकर यदि आप चाहें तो उसकी थोड़ी बहुत कल्पना

सकते हैं। सन् १८१८ में सारे संसार में लगभग ६ अरब व्यापार हुआ था। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ काल से लेकर सवीं शताब्दि के आरम्भ तक मनुष्य व्यापार-क्षेत्र में जो कुछ सका था, उसका मूल्य, एक साल में ६ अरब तक ही पहुंच का था। सन् १८५० में भी सारे संसार का यह व्यापार उस मय केवल दूना हो सका था, अर्थात् लगभग १२ अरब का पार हुआ था। पर सन् १९०० में वह बढ़ कर प्रायः ६० रब हो गया था और सन् १९१३ में तो वह बढ़ कर १ खरब और २० अरब तक पहुंच गया था। अर्थात् सौ वर्ष से भी कम समय में वह प्रायः बीस गुना हो गया था। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि ये अंक केवल एक वर्ष के हैं। इन्हीं अंकों से इस बात का अनुमान हो सकता है कि इधर के सौ वर्षों में यूरोप के गोरों ने सारे संसार का कितना अधिक धन अपने घर में भर लिया होगा और सारे संसार को धन से कितना खाली कर दिया होगा।

अब इसीसे आप कल्पना कर लीजिये कि उन्नीसवीं शताब्दि में गोरों की सभ्यता ने क्या क्या काम किये। पर इस उन्नति और आर्थिक लाभ को देख कर ही आप भ्रम में न पड़ जायँ। इस सभ्यता का एक और अंग था, जो दोषों का था और जो गुणोंवाले अंग की अपेक्षा सैंकड़ों हजारों गुना अधिक भारी था। जब गुणों और लाभों का ही पूरा पूरा वर्णन या अनुमान नहीं हो सकता, तब उन दोषों के अनुमान का तो कहना ही क्या है! वे दोष ऐसे हैं जिनकी निंदा गोरों की सभ्यता का समर्थन करने वाले हजारों बड़े बड़े विद्वानों और प्रसिद्ध लेखकों ने बराबर

समय समय पर की है। यहाँ उन सब का उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि मनुष्यत्व और सभ्यता के ऊँचे ऊँचे आदर्शों को एकदम से छोड़ कर गोरे लोग केवल स्वार्थ-साधन में लग गये और पूरे धन-लोलुप बन गए। फिर भी गोरी सभ्यता के थोड़े से समर्थक ऐसे हैं, जो यह कह कर अपना दोष छिपाना चाहते हैं कि हमें इस मार्ग का ग्रहण नितांत बदली हुई परिस्थितियों के कारण करना पड़ता था। वे कहते हैं कि सभ्य गोरी जाति ने अब एक ऐसे नये भौतिक जगत् में प्रवेश किया था, जो उसके पूर्वजों के समय के जगत से एकदम भिन्न था। यह एक वैज्ञानिक सत्य सिद्धान्त है कि जो जीव अपने जीवन की रक्षा करना चाहता हो, उसे यह आवश्यक है कि अपने आपको नई और परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बनाता है, तो उसका नाश अवश्यम्भावी है। परिस्थितियों में जितना ही अधिक और शीघ्रता से परिवर्तन होता है, जीवित रहने की इच्छा करने वाले प्राणी को भी अपने आप में परिवर्तन करके उतनी ही शीघ्रता से अपने आप को उन नई परिस्थितियों के अनुकूल बनाना पड़ता है। कदाचित् यहाँ पाठकों को यह बतलाने की आवश्यकता न होगी कि गोरी सभ्यता के पृष्ट-पोषकों का यह तर्क बिलकुल थोथा है और इसमें कोई तथ्य नहीं है। प्रकृति कभी कोई ऐसी परिस्थिति नहीं उत्पन्न करती जिसमें किसी मनुष्य को, और वह भी सभ्य बनने वाले मनुष्य को, अनिवार्य रूप से दूसरों के देश और सम्पत्ति पर इस बुरी तरह से अधिकार कर लेने की आवश्यकता पड़े। यह तो अपनी पाशविक वृत्ति का समर्थन करने के लिए गढ़ा हुआ तर्क

है। यहाँ यह बात भी स्मरण रखने के योग्य है कि उक्त वैज्ञानिक सिद्धांत को गोरी सभ्यता के समर्थक विद्वानों ने जान बूझ कर ऐसा रूप दे दिया है कि लोग उसके धोखे में पड़ कर उनके सिर दोष मढना छोड़ दें। इसके सिवा इस तर्क का कोई अर्थ नहीं है।

उन्नीसवीं शताब्दि से पहले यूरोप वालों के आदर्श अवश्य ही बहुत कुछ उच्च तथा प्रशंसनीय थे। पर उन्नीसवीं शताब्दि में गोरों ने उन आदर्शों का बिलकुल त्याग कर दिया और वे हर तरह से दूसरों के देशों और धन-सम्पत्ति पर अधिकार करने की चिन्ता में लग गये। उनके इस एकांगी प्रयत्न की खराबियाँ भी जल्दी ही दिखाई देने लग गईं। मुख्य बात यह है कि प्रकृति कभी किसी प्रकार का बहाना नहीं सुनती। वह केवल शुभ परिणाम पर ध्यान रखती है। और जिसके कार्य का परिणाम शुभ नहीं होता, उसे वह तुरन्त ही पूरा पूरा दंड देती है। गोरों को भी अब वह दण्ड मिलना आरम्भ हो गया है। पर उन में से कुछ तो उस दण्ड का स्वरूप देख कर अभी से सचेत होने लग गये हैं और बहुत से लोग अभी उसकी उपेक्षा ही कर रहे हैं। वे अपनी शक्ति के घमंड में प्रकृति को भी कोई चीज नहीं समझते। पर यदि सच पूछा जाय तो वे इस उदासीनता से दूसरों की जो हानि करते हैं, वह तो करते ही हैं, पर साथ ही साथ वे अपने अपराधों की भीषणता भी बढ़ाते जाते हैं और उसके परिणाम स्वरूप अधिक कठोर दंड के भागी बनते जाते हैं।

उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में ही इस बात के लक्षण दिखाई देने लग गये थे कि शीघ्र ही गोरों की उन्नति का अन्त और पतन का आरंभ होने वाला है। उनमें तरह तरह की कमजोरियाँ

आने लग गई थीं यहाँ तक कि उनके जातीय बल और गुणों का भी ह्रास होने लग गया था। उन लक्षणों को देख कर विचारशील लोग चिन्तित होने लग गए थे। सभी स्थानों से गोरों का रोब कम होने लग गया था—सभी जगहों में लोग उनके अधिकार से बाहर निकल ने का प्रयत्न करने लग गये थे। उनकी भीतरी दशा भी अच्छी नहीं थी। पारस्परिक राग, द्वेष और वैमनस्य की मात्रा बहुत बढ़ गई थी। सभी जगह वे एक दूसरे को निगल जाने का प्रयत्न कर रहे थे। कोई किसी का वैभव नहीं देख सकता था। मारे अभिमान के कोई जमीन पर पैर नहीं रखता था। सारे संसार में मानो स्वार्थ का ही राज्य रह गया था। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाले सिद्धांत के सिवा और कोई सिद्धांत दिखाई हीं नहीं देता था। भला इस अवस्था में संसार कितने दिनों तक चल सकता था? इसलिए प्रकृति ने गोरों को उनके अपराध का दंड देने के लिए अपना भीषण दंड उठाया। उस दंड के कुछ प्रहार हो भी चुके हैं; पर लक्षणों से जान पड़ता है कि अभी और कई प्रहार होने को बाकी हैं।

उन्नीसवीं शताब्दि के अन्त में सबसे पहली बात यह हुई कि प्रायः सभी गोरी जातियों की सन्तान की वृद्धि रुक गई। फ्रांस की जन-संख्या की वृद्धि तो मानों एकदम से रुक गई। बहुत दिनों तक वहां की जन-संख्या ज्यों की त्यों बनी रही। यह कोई साधारण बात नहीं थी; इसलिये अनेक विद्वानों का ध्यान इस ओर गया। यह बात असाधारण इसलिये है कि मनुष्य की जनन-शक्ति बहुत अधिक है। और इसीलिये संसार की आबादी आरम्भ से अब तक बराबर बढ़ती ही गई है। पर साथ ही एक बात और

है। प्रकृति बीच बीच में अनेक उपायों से यह वृद्धि रोकती भी रहती है। यदि वृद्धि में रुकावट न हो तो वह ऐसा भीषण रूप धारण कर सकती है जिसका अनुमान करना भी हमारे लिये असम्भव है। यदि वृद्धि में किसी प्रकार की रुकावट न हो तो साल दो साल में ही किसी पक्षी के एक जोड़े से लाखों पक्षी हो सकते हैं। पशु-जगत में हाथी प्रायः सबसे कम बच्चे देता है। पर हिसाब लगा कर देखा गया है कि यदि प्रकृति की ओर से वृद्धि की रुकावट की व्यवस्था न होती तो हाथी के एक ही जोड़े से ७५० वर्षों में अठारह करोड़ हाथी हो जाते। अधिकांश मछलियां एक ही बार में लाखों अंडे देती हैं। यदि उनकी वृद्धि में विघ्न न पड़े तो थोड़े ही दिनों में एक ही प्रकार की मछलियों से संसार के सारे महासमुद्र भर जायँ। और जातियों की मछलियों के रहने के लिये स्थान ही न बच जाय। बरगद और पीपल के करोड़ों बीज हुआ करते हैं। यदि उनमें से प्रत्येक बीज जमकर वृक्ष बनने लगे तो संसार में और किसी वनस्पति या जीव के रहने के लिये स्थान ही न मिले। इसलिए वृद्धि का बिलकुल ही रुक जाना और वह भी एक सभ्य उन्नत और सुखी जाति की वृद्धि का रुक जाना अवश्य ही चिन्ताजनक है।

यह बात नहीं थी कि सारे संसार में गोरों की वृद्धि होती नहीं थी। वृद्धि तो नियमानुसार अवश्य होती थी, पर वह बहुधा यूरोप के बाहर हुआ करती थी। केवल यूरोप की जन-संख्या की वृद्धि रुक गई थी। यूरोप के बाहर दूसरे महादेशों में यूरोप वाले जाकर अधिकार जमाने लग गए थे और प्रायः वहीं बसने भी लग गए थे। यद्यपि गोरों ने अनेक प्रकार के नए नए

आविष्कार करके और तरह तरह के यन्त्र आदि बना कर जीविका निर्वाह के यथेष्ट नए साधन उत्पन्न कर लिये थे, पर फिर भी वे उतने से सन्तुष्ट नहीं हुए। दूसरों के देशों और सम्पत्ति पर अधिकार करने का उन्हें चसका लग गया था, वह उन्हें अपने देश में जमकर रहने ही न देता था। इस प्रकार बहुत से लोग तो यों अपनी मातृभूमि से अलग हो जाते थे और उधर मातृभूमि में जो लोग रहते थे, उनकी जनन-शक्ति के घटने के लक्षण दिखाई देते थे। जातीय बल भी धीरे धीरे कम होता जाता था। आदर्श भी धीरे धीरे नष्ट होते जाते थे। राजनीतिक वैमनस्य और सामाजिक असन्तोष भी बहुत बढ़ गया था। तात्पर्य यह है कि ह्रास के सभी लक्षण दिखाई देने लग गए थे। और अभी तक वे लक्षण प्रायः बराबर बढ़ते ही जाते हैं। और फिर इनका बढ़ना अनिवार्य भी है। संसार में कोई एक ही जाति सदा किस प्रकार बलवती और प्रधान बनी रह सकती है! उसे एक न एक दिन दूसरों के लिए अपना स्थान छोड़ना ही पड़ेगा। यह परिवर्तन भी प्रकृति का एक अटल नियम है। इससे किसी प्रकार बर्ताव हो ही नहीं सकता। इससे बचने के लिए जो उपाय होंगे, वे अस्थायी ही होंगे; स्थायी कभी हो ही नहीं सकते। क्योंकि प्रकृति के नियमों में बाधक होना मनुष्य की सामर्थ्य के बाहर है।

इधर पचास साठ वर्षों से यूरोप में राष्ट्रीय साम्राज्यवाद का ज़ोर बहुत अधिक बढ़ गया था। प्रत्येक राष्ट्र केवल अपना साम्राज्य बढ़ाने की चिंता में लगा था। यही कारण था कि यूरोपीय राष्ट्र एक दूसरे की सुख-समृद्धि किसी प्रकार नहीं देख सकते थे। सब लोग केवल अपना ही भला चाहते थे; और जब कभी वे अपने

किसी प्रतिस्पर्धी को किसी प्रकार के कष्ट में देखते थे, तो बहुत प्रसन्न होते थे। यह ठीक है कि इसी बीच में वहाँ सार्वराष्ट्रीय वाद का भी थोड़ा बहुत प्रचार हुआ था। कुछ लोग ऐसे भी निकलने लगे थे, जो यह समझने लग गये थे कि सब लोगों को अपने सुख के ध्यान के साथ साथ और देशों अथवा राष्ट्रों के कल्याण का भी ध्यान रखना चाहिए। पर ऐसे लोगों की बातों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता था। जो लोग इस बीसवीं शताब्दि में भी गोरों के प्रभुत्व का समर्थन करते हैं और यह चाहते हैं कि संसार में गोरों के सिवा और किसी जाति का नाम भी न रह जाय, वे ऐसे सार्वराष्ट्रीयवाद के समर्थनों की अब भी हँसी उडाते हैं और उनके सिद्धांतों को जातीय संकुचित दृष्टि से घातक समझते हैं। इसका कारण यही है कि वे एक मात्र बल के उपासक हैं। वे समझते हैं कि जब तक हम बलवान् रह सकते हैं, तब तक किसी प्रकार हमारा नाश या पतन नहीं हो सकता। पर ऐसे लोग प्रकृति का यह अटल नियम भूल जाते हैं कि उन्नति के उपरान्त पतन और पतन के उपरान्त उन्नति का होना वैसा ही अवश्यम्भावी है जैसा कि दिन के उपरान्त रात का और रात के उपरान्त दिन का होना अनिवार्य है। खैर। यह तो एक ऐसा सिद्धान्त है जिसका प्रतिपादन इस पुस्तक में अनेक बार हो चुका है। कहने का तात्पर्य यही है कि गोरी जातियाँ आपस में एक दूसरी की हानि देखकर ही प्रसन्न होने लग गई थीं। इसका एक बहुत बड़ा उदाहरण गत रूस-जापान युद्ध के समय मिला था। पहले यूरोप में रूस का बहुत अधिक आतंक था। यूरोप के प्रायः सभी राष्ट्र रूस से बहुत डरा करते थे। जो लोग उस समय के संसार का कुछ भी ज्ञान

रखते हैं, वे कह सकते हैं कि भारत के सम्बन्ध में प्रवल ब्रिटिश सरकार भी रूस से कितनी अधिक भयभीत रहा करती थी। केवल रूस के डर के मारे ही बहुत दिनों तक अंग्रेज़ लोग लाखों करोड़ों रुपये अफगानीस्तान सरकार को दिया करते थे। पर जब वही रूस एशिया के एक बालक राष्ट्र जापान से युद्ध में हार गया, तब यूरोप के अन्यान्य राष्ट्रों की प्रसन्नता का ठिकाना न रह गया। यह एक नियम है कि बहुधा लोगों को अपने तत्कालिक स्वार्थ के आगे सुदूर भविष्य दिखाई नहीं देता। यह दोष, दृष्टि या बुद्धि का नहीं, स्वार्थ का ही है। उस समय गोरी जाति का प्रताप-सूर्य अपने शीर्ष-विन्दु पर जा पहुंचा था और उस विन्दु पर पहुंचने के उपरांत कोई सूर्य कभी वहाँ ठहर ही नहीं सकता। उसे अवश्य नीचे की ओर चलना पड़ता है। ऐसी दशा में यदि यूरोप वालों ने रूस-जापान युद्ध से जैसी चाहिए वैसी शिक्षा नहीं ग्रहण की, तो इसमें किसीको आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

रूस के पराजय पर यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों को आनन्द मनाते देखकर रेने पिनन नामक एक फ्रान्सी राजनीतिज्ञ ने कहा था "सम्भवतः इस समय यूरोप रूस-जापान युद्ध का महत्व समझने और उससे शिक्षा ग्रहण करने के लिये तैयार नहीं है। जो राष्ट्र बनियापन करके अपना काम चलाते हैं, उनका ध्यान केवल तात्कालिक लाभ पर ही होता है। वे सुदूर भविष्यत् के लिये तैयार नहीं हो सकते। जिस यूरोप में भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेकानेक स्वार्थों का राज्य है, जिसमें अनेक प्रतिस्पर्धी हैं, उस यूरोप में भला एकता कैसे हो सकती है? इस समय परिस्थिति ही ऐसी है कि चाहे बाहरी संकटों की कितनी ही अधिक आशंका क्यों न हो, पर

राजनीतिक राग-द्वेष किसी प्रकार कम नहीं हो सकता । जापान अपनी सेनाओं और लड़ाई के जहाजों के कारण जितना बलवान् हो सकता है, उससे अधिक बलवान् वह हम लोगों की पारस्परिक फूट के कारण होगा । वास्तविक संकट कहीं बाहर से नहीं आ रहा है । वह तो स्वयं हम लोगों में ही है ।"

पर पिनन की इन बातों की ओर यूरोपीय राष्ट्रों का ध्यान जा ही कैसे सकता था ? "विनाश काले विपरीत बुद्धिः" वाला सिद्धान्त चरितार्थ होने लगा । यूरोपीय राष्ट्रों के जितने दुर्गुण, जितनी दुर्बलताएँ थीं, उन सब में निरन्तर वृद्धि होती गई । यूरोपीय राष्ट्र दूसरों को खा चुकने के उपरान्त आपस में एक दूसरे को खाने की चिन्ता में प्रवृत्त हुए । प्रकृति ने फिर अपना दण्ड उठाया । मानों किसी अज्ञात और परम प्रबल शक्ति ने जबरदस्ती गरदन पकडकर यूरोप को एक बहुत बड़े गहरे और नाशक गड्ढे में ढकेल दिया । यह गहरा और नाशक गड्ढा गत यूरोपीय महायुद्ध था । पर मजा तो यह है कि उस गड्ढे में गिरने के उपरान्त भी, उस महायुद्ध की समाप्ति हो जाने पर भी, आज तक यूरोप वालों की बुद्धि ठिकाने नहीं आई है । वही घातक और नाशक नीति अब तक पहले की भांति ही अपना काम करती जा रही है । आज भी यूरोप में उसी पारस्परिक राग द्वेष का राज्य है, आज भी वहाँ वाले आपस में एक दूसरे को निगलने का मौका ढूँढ रहे हैं; और शेष संसार उत्सुकता और उत्कंठा से और भी अधिक भीषण परिणाम की प्रतीक्षा कर रहा है ।

यूरोपीय महायुद्ध

(८)

सन् १९१४ में महायुद्ध में प्रवृत होकर यूरोप ने मानों आत्म-हत्या का एक बहुत बड़ा प्रयत्न किया था। संसार का कदाचित् कोई युद्ध भीषणता में उसका मुकाबला नहीं कर सकता। अब तक के इतिहास में वह युद्ध अभूत-पूर्व है।

महायुद्ध के आरम्भ से पहले यूरोप के सभी राष्ट्र बहुत अधिक बलवान् और शक्तिशाली हो गए थे। बहुत दिन पहले से ही वे अपना अपना बल बढ़ा रहे थे। तोपों पर तोपें और जहाजों पर जहाज बनते चले जा रहे थे। सैनिक बल की प्रतियोगिता चरम सीमा को पहुंच चुकी थी। मानों सभी राष्ट्र भली भांति यह जानते थे कि शीघ्र ही भीषण महायुद्ध होने वाला है और उसके लिये तैयार हो रहे थे। जिस प्रकार बलिदान अथवा हलाल करने के लिये खसी पहले खिला पिलाकर खूब अच्छी तरह तैयार की जाती है, उसी प्रकार प्रकृति-देवी मानों यूरोपीय राष्ट्रों को बहुत ही यत्नपूर्वक हृष्ट पुष्ट कर रही थी। जब यूरोप खूब अच्छी तरह लड़ने के लिए तैयार हो गया, तब वह लड़ पड़ा। इस समय कुछ लोग समझते हैं कि यूरोपीय महायुद्ध समाप्त हो गया और अब

संसार में फिर शान्ति बिराज रही है। पर यह उनकी भूल है। इस समय भी यूरोप से शान्ति उतनी ही दूर है, जितनी दूर वह महायुद्ध के आरम्भ होने के समय थी; बल्कि अनेक अंशों में उससे भी कहीं अधिक बढ़ी चढ़ी है। यूरोपीय राष्ट्रों ने अभी युद्ध समाप्त नहीं किया है। अभी तो वे लड़ते लड़ते थककर जरा दम लेने के लिये बैठे हैं। पर बैठे भी खाली नहीं हैं। फिर से कट मरने की तैयारी कर रहे हैं। और आज यह तैयारी पहले से भी ज्यादा जोरों पर है। विजयी पक्ष ने अपने विजित शत्रुओं से कह दिया है कि जरा ठहरो; हम फिर से तुम्हारी खबर लेना चाहते हैं। उधर विजित पक्ष मन ही मन समझ रहा है कि तुम जाते कहाँ हो, इस बार तो मैं तुम्हें लड़ाई का मजा चखाऊँगा। गत महा-युद्ध तो उस युद्ध-चक्र का केवल एक आरा है जो प्रकृति ने गोरी शक्ति का अन्त करने के लिये तैयार किया है। अब यदि आप इसे शान्ति समझना चाहें तो प्रसन्नता से समझ सकते हैं।

गोरी जाति अपनी आत्मा का तो उसी समय नाश कर चुकी थी जब उसने अपने पुराने उच्च आदर्शों को छोड़ कर अपनी सारी शक्ति ऐहिक पदार्थों और सुखों की प्राप्ति में ही लगा दी थी; और अब वह अपना शरीर भी नष्ट करने पर उतारू हुई थी। यूरोप की आधुनिक गोरी सभ्यता की जननी यूनानी सभ्यता ने भी एक बार इसी प्रकार आत्म-हत्या की थी। उस सभ्यता ने भरी जवानी में अपने हाथों अपने प्राण गँवाए थे और वह अपने अनेक ऐसे गुण, जिनसे संसार का बहुत कुछ कल्याण हो सकता था, अपने साथ ही लेती गई थी। अब संसार में उस सभ्यता का केवल नाम ही नाम रह गया है, और रह गई है उसकी

उत्तराधिकारिणी आधुनिक गोरी सभ्यता, जो कम से कम आत्म-हत्या के प्रयत्न में तो अवश्य ही अपनी जननी का पूरा पूरा अनुकरण कर रही है। वह क्या अनुकरण कर रही है, बलवती विधि उससे बलपूर्वक ऐसा करा रही है। वह विधि किसी को अपने शासन-क्षेत्र से बाहर नहीं निकलने देती। जन्म देना और नष्ट करना दोनों उसके अटल नियम हैं—परम निश्चित सिद्धांत हैं। उसके दंड से बचना असम्भव है।

यों तो गोरी सभ्यता के नाश का बीज बहुत पहले से ही बोया जा चुका था, पर बीसवीं शताब्दि के आरंभ में उसके अंकुर बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखाई देने लग गये थे। सारे यूरोप में घोर अशांति का साम्राज्य स्थापित हो गया था। सैनिकवाद का भाव पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। जिस प्रकार नाशक भूकम्प आने से पहले भूगर्भ में अन्दर ही अन्दर उथल-पुथल मचती है, ठीक उसी प्रकार की उथल-पुथल यूरोप में भी मच रही थी। पाशविक वृत्तियों से उत्तेजित होने के कारण मानवी बल ज्वालामुखी की भाँति फूटा पड़ता था। ऐसा जान पड़ता था कि लोग शांति से नितांत विरक्त हो गये हैं और अपनी सारी शक्ति लगा कर अशान्ति का आह्वान् कर रहे हैं। रणचंडी के नृत्य के लिए जिन चीजों की जरूरत होती है, वे सभी चीजें जमा की जा रही थीं कोई आयोजन बाकी नहीं छोड़ा जाता था। यह प्रयत्न जान बूझ कर भी किया जाता था और अनजान में भी आप से आप होता चलता था। भावी भीषण नाश के लिए केवल मनुष्य का हाथ ही यथेष्ट बलवान् नहीं था; इसलिए दैवी हाथ भी उसमें सहायक हो रहा था।

कई वार युद्ध छिड़ने की नौबत आई, पर फिर भी युद्ध रह ही गया। इसका यह कारण नहीं था कि लोग युद्ध करना नहीं चाहते थे, बल्कि यह कारण था कि लोग युद्ध के लिए अच्छी तरह तैयार नहीं थे। सभी राष्ट्र जानते थे कि आगामी युद्ध कितना अधिक भीषण होगा और इसीलिए वे पूरी तैयारी करने के लिए युद्ध को टालते चलते थे। पर उस समय युद्ध छिड़ने के केवल दो ही प्रबल कारण थे। पहला कारण एक प्रकार से दैवी भी माना जा सकता है। वह कारण युद्ध का प्रत्यक्ष और तात्कालिक कारण था। कारण क्या था युद्ध का एक बहाना था। और ऐसा अच्छा बहाना फिर जल्दी हाथ नहीं आ सकता था। युद्ध छिड़ने का उस समय दूसरा कारण यह था कि जर्मनी यह समझता था कि चाहे इस समय हम युद्ध के लिए पूरे पूरे तैयार न हों, पर फिर भी औरों की अपेक्षा कहीं अधिक तैयार हैं।

पर और राष्ट्र भी युद्ध के लिए कुछ कम तैयार नहीं थे। और जो तैयार नहीं थे, उन्हें स्वयं प्रकृति तैयार कर रही थी। युद्ध आरंभ होने से महीनों पहले यूरोप के सभी देशों में घोर सामाजिक आर्थिक और राजनीतिक विप्लव हो रहे थे। इंगलैंड में आंतरिक झगड़े और बखेड़े हो रहे थे। रूस में घोर सामाजिक विप्लव की तैयारियाँ हो रही थीं। इटली में भारी अराजकता फैली हुई थी। तात्पर्य यह कि यूरोप के सभी देशों में खलबली मची हुई थी। यदि उस समय युद्ध न भी आरंभ होता, तो भी वहाँ आन्तरिक और गृह कलह के लिए बहुत अच्छा क्षेत्र तैयार हो चुका था।

पर इसी बीच में महायुद्ध छिड़ गया और दिन पर दिन

भीषण रूप धारण करता गया। इस युद्ध का इतिहास बतलाना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है। हमें तो केवल उसके परिणाम पर ध्यान देना चाहिए। इस युद्ध के कारण होने वाला धन और जन का नाश कल्पनातीत है। और फिर इसके कारण संसार का जो कुछ नैतिक अथवा आध्यात्मिक पतन हुआ है, उसका तो कोई ठिकाना ही नहीं है।

सब से पहले धन-नाश को लीजिए। यदि सच पूछिए तो इस महायुद्ध के कारण जितने अधिक धन का नाश हुआ है, उसका कोई ठीक ठीक लेखा तैयार ही नहीं हो सकता। यह धन-नाश भी दो प्रकार का है। एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष तो वह है जो इस युद्ध में व्यय हुआ और अप्रत्यक्ष वह है जो इसके कारण लोगों के काम-धंधे में होने वाले हर्ज या हानि के कारण हुआ। बहुत से लोगों ने अनेक प्रकार से इस युद्ध में होने वाले व्यय का लेखा तैयार किया है। एक अमेरिकन विद्वान् के हिसाब से इस युद्ध में लगभग छः खरब रुपये तो प्रत्यक्ष रूप से खर्च हुए; और अप्रत्यक्ष रूप से होने वाली हानि भी कम से कम इतनी तो अवश्य ही समझ लीजिए, चाहे वह हुई हो इससे कहीं अधिक। पर यह लेखा भी मन को समझाने के लिए ही है। और नहीं तो अङ्कों में तो उसका कोई हिसाब हो ही नहीं सकता। बस यही समझ लीजिए कि पाँच वर्ष तक सभी योद्धा राष्ट्रों के नित्य लाखों करोड़ों रुपए खर्च होते रहे। ठीक ठीक हिसाब लगाना तो मनुष्य की शक्ति के सचमुच बाहर है।

यदि जन-नाश पर ध्यान दिया जाय तो वह इससे भी बढ़ कर भीषण और कलेजा दहलाने वाला है। धन चाहे कितना ही

अधिक क्यों न नष्ट हुआ हो, पर उसकी पूर्त्ति यदि आज नहीं तो कल और कल नहीं तो सौ वर्ष बाद हो भी सकती है। पर जन-नाश की पूर्त्ति भला कब और कैसे हो सकती है ? जो करोड़ों आदमी इस युद्ध में मारे गए, क्या उनमें से एक भी किसी प्रकार फिर जीवित हो सकता है ? कदापि नहीं। आज तक मनुष्यों ने आपस में लड़ कर कभी अपनी संख्या की इतनी भीषण हानि नहीं की थी। गत महायुद्ध में लगभग छः करोड़ सैनिक एकत्र किये गए थे, जिनमें से साढ़े तीन करोड़ के लगभग या तो मारे गये, मर गये या सदा के लिए बेकाम हो गए। अस्सी लाख आदमी या तो युद्ध में निहत हुए थे या युद्ध के उपरांत रोगों आदि के कारण मरे थे। दो करोड़ के लगभग आदमी घायल हुए थे। और सत्तर लाख के लगभग कैद हुए थे। रूस की जन-हानि सब से अधिक हुई थी। उसके ९० लाख के लगभग आदमी या तो मारे गए थे, या और प्रकार से नष्ट हुए थे। जर्मनी के हतों और आहतों आदि की संख्या ६० लाख और फ्रान्स वालों की ४५ लाख के लगभग थी। ब्रिटिश साम्राज्य के भी प्रायः तीस लाख आदमी किसी न किसी प्रकार नष्ट हुए थे। अमेरिका बहुत बाद में युद्ध में सम्मिलित हुआ था, इसलिए उसकी जन-हानि केवल तीन ही लाख थी।

पर खाली यह लेखा भी जन-हानि का ठीक ठीक अनुमान कराने में असमर्थ ही है। यह संख्या तो केवल योद्धाओं से ही सम्बन्ध रखती है। इसके सिवा साधारण नागरिक, जो युद्ध से बिलकुल अलग थे, कम नहीं नष्ट हुए। विशेषतः पूर्वी यूरोप और तुर्की में नागरिकों की संख्या में बहुत ही अधिक ह्रास हुआ था।

नागरिकों का नाश अनेक रूपों में हुआ था। बहुत से नागरिक तो जेता योद्धाओं के हाथों मारे गये थे। बहुत से केवल इसलिये भूखों मर गये थे कि उनका भरण-पोषण करने वाला कोई नहीं था। और बहुत से लोग युद्ध के परिणाम-स्वरूप फैलने वाले रोगों के शिकार हुए थे। भारत में अभी हाल में जो इनफ्ल्यूएंजा इतने भीषण रूप से फैला था, वह भी एक प्रकार से इस महायुद्ध का ही प्रसाद था। अनुमान किया जाता है कि सारे संसार में इस प्रकार के रोगों से मरने वालों की संख्या करोड़ों के लगभग थी। साथ ही इसका एक और अंग है। युद्ध में सदा युवक और हृष्ट पुष्ट लोग ही सम्मिलित होते हैं। उनके मारे जाने से देशों की जनन-शक्ति नष्ट हो जाती है। इस प्रकार यदि यह देखा जाय कि युद्ध के कारण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से कितनी जन-हानि हुई, तो फिर यही कहना पड़ता है कि उसका ठीक ठीक हिसाब लगाना नितान्त असम्भव है। यहाँ तक कि उसकी पूरी पूरी कल्पना भी नहीं हो सकती। पर फिर भी साधारणतः यह कहा जा सकता है कि युद्ध में प्रत्यक्ष रूप से जितने आदमी मारे गये या घायल हुए, उन से छः गुने अठगुने आदमी अवश्य ही अप्रत्यक्ष रूप से भी नष्ट हुए हो।

गत महायुद्ध के कारण यूरोपीय देशों की जन-संख्या की कितनी भीषण हानि हुई है, इसका अनुमान एक फ्रांस के उदाहरण से ही किया जा सकता है। सन् १९१४ में फ्रांस की आबादी चार करोड़ से भी कुछ कम ही थी। इतनी थोड़ी आबादी में से प्रायः ८० लाख आदमी युद्ध के लिए सेना में भरती किये गए थे। इनमें से लगभग १४ लाख आदमी तो युद्ध-क्षेत्र में मारे गए

प्रायः ३० लाख आदमी घायल हुए और चार लाख से अधिक कैद हुए। जो लोग घायल हुए थे, उनमें से आठ नौ लाख आदमी ऐसे थे जो सदा के लिए बेकाम हो गये। इस प्रकार फ्रांस की आबादी में से प्रायः बीस लाख आदमी कम हो गये। वे या तो सदा के लिए बेकाम हो गए या जान से ही गये। और ये बीस लाख आदमी कैसे थे ? फ्रान्स में सब से अच्छे हृष्ट पुष्ट और कमाने वाले थे।

नागरिकों की जन-संख्या में भी कम हानि नहीं हुई। फ्रांस के जिन उत्तरी प्रदेशों पर ज़र्मनी ने अधिकार कर लिया था, उनमें जितने नागरिक निहत हुए थे, उनकी बात तो एक ओर रही। सन् १९१४ में वहाँ जितने बालकों ने जन्म लिया था, उनकी अपेक्षा मरने वालों की संख्या पचास हजार अधिक थी। इसके उपरांत लगातार चार वर्षों तक जन्म की अपेक्षा मृत्यु-संख्या औसत तीन लाख अधिक थी। यह अधिकता वयस्क पुरुषों के मरने के कारण नहीं हुई थी। बल्कि जनने में कमी होने के कारण हुई थी। सन् १९१३ में फ्रान्स में प्रायः छः लाख बालकों ने जन्म लिया था। पर सन् १९१६ में वहाँ केवल ३,५१,००० बालकों ने और १९१७ में ३,४३,००० बालकों ने ही जन्म लिया था। यदि इस हिसाब से देखा जाय तो सन् १९१३ से १९१९ तक फ्रान्स की जन-संख्या में लगभग तीस लाख की कमी हो गई। और यह संख्या उसकी समस्त जन-संख्या की लगभग दशमांश होती है।

यह बात नहीं है कि यह हानि केवल फ्रान्स को ही हुई थी। यह तो हाँडी में का एक चावल है। ठीक यही दशा यूरोप के प्रायः

सभी देशों की हुई थी। इस महायुद्ध के कारण होनेवाली हानि अपरिमित और परम भीषण थी। यह गोरी जाति की आत्म-हत्या नहीं थी तो और क्या था। यह यूरोप के नागरिकों का एक भीषण गृह-युद्ध था जिसमें वे सब आपस में ही कट मरे थे। सारे यूरोप में जितने बलवान् और बुद्धिमान् थे, वे सब जबरदस्ती पकड़-पकड़ कर लाये जाते थे और युद्ध-क्षेत्र में रण-चंडी के आगे बलि चढ़ाए जाते थे। और यदि कोई पूछे कि थोड़े से राजनीतिक अधिकारियों को इस प्रकार जबरदस्ती अपने देश और देशवासियों का बल्कि यों कहना चाहिए कि मानव-जाति का नाश करने का क्या अधिकार था, तो उसका कोई समुचित उत्तर हो ही नहीं सकता। यदि हम बात को जाने भी दें और केवल यही पूछें कि इस भीषण नर-हत्या से क्या लाभ हुआ, तो उसका भी कोई उत्तर नहीं हो सकता। यदि इन बातों का कोई उत्तर हो सकता है तो वह केवल यही कि बहुत दिनों से मनुष्य में कटने-मरने की जो पाशविक वृत्ति चली आती है, वही अपना प्रभाव दिखला रही थी। जिस प्रकार कुत्ते रोटी के टुकड़े अथवा हड्डी के लिए आपस में लड़ते हैं, उसी प्रकार युरोप वाले भी एक दूसरे के अधिकृत देशों पर अपना अधिकार करने के लिए लड़ मर रहे थे। बल्कि एक बात में तो वे इन कुत्तों आदि से भी गये-बीते थे; क्योंकि कुत्ते तो केवल स्वयं ही लड़ते भिड़ते हैं, पर समाज में सर्वश्रेष्ठ कहलाने वाले ये राजनीतिज्ञ आप तो आराम से कुरसियों पर बैठे रहा करते थे, और तरह तरह के तर्क निकाल कर अपने देश-वासियों को आपस में कटने मरने पर उद्यत कर रहे थे।

अगस्त १९१४ में ही कुछ बुद्धिमानों ने यह बात अच्छी तरह

प्रायः ३० लाख आदमी घायल हुए और चार लाख से अधिक कैद हुए। जो लोग घायल हुए थे, उनमें से आंठ नौ लाख आदमी ऐसे थे जो सदा के लिए बेकाम हो गये। इस प्रकार फ्रांस की आबादी में से प्रायः बीस लाख आदमी कम हो गये। वे या तो सदा के लिए बेकाम हो गए या जान से ही गये। और ये बीस लाख आदमी कैसे थे ? फ्रान्स में सब से अच्छे हृष्ट पुष्ट और कमाने वाले थे।

नागरिकों की जन-संख्या में भी कम हानि नहीं हुई। फ्रांस के जिन उत्तरी प्रदेशों पर जर्मनी ने अधिकार कर लिया था, उनमें जितने नागरिक निहत हुए थे, उनकी बात तो एक ओर रही। सन् १९१४ में वहाँ जितने बालकों ने जन्म लिया था, उनकी अपेक्षा मरने वालों की संख्या पचास हजार अधिक थी। इसके उपरांत लगातार चार वर्षों तक जन्म की अपेक्षा मृत्यु-संख्या औसत तीन लाख अधिक थी। यह अधिकता वयस्क पुरुषों के मरने के कारण नहीं हुई थी। बल्कि जनने में कमी होने के कारण हुई थी। सन् १९१३ में फ्रान्स में प्रायः छः लाख बालकों ने जन्म लिया था। पर सन् १९१६ में वहाँ केवल ३,५१,००० बालकों ने और १९१७ में ३,४३,००० बालकों ने ही जन्म लिया था। यदि इस हिसाब से देखा जाय तो सन् १९१३ से १९१९ तक फ्रान्स की जन-संख्या में लगभग तीस लाख की कमी हो गई। और यह संख्या उसकी समस्त जन-संख्या की लगभग दशमांश होती है।

यह बात नहीं है कि यह हानि केवल फ्रान्स की ही हुई थी। यह तो हाँडी में का एक चावल है। ठीक यही दशा यूरोप के प्रायः

सभी देशों की हुई थी। इस महायुद्ध के कारण होनेवाली हानि अपरिमित और परम भीषण थी। यह गोरी जाति की आत्म-हत्या नहीं थी तो और क्या था। यह यूरोप के नागरिकों का एक भीषण गृह-युद्ध था जिसमें वे सब आपस में ही कट मरे थे। सारे यूरोप में जितने बलवान् और बुद्धिमान् थे, वे सब जबरदस्ती पकड़-पकड़ कर लाये जाते थे और युद्ध-क्षेत्र में रण-चंडी के आगे बलि चढ़ाए जाते थे। और यदि कोई पूछे कि थोड़े से राजनीतिक अधिकारियों को इस प्रकार जबरदस्ती अपने देश और देशवासियों का बल्कि यों कहना चाहिए कि मानव-जाति का नाश करने का क्या अधिकार था, तो उसका कोई समुचित उत्तर हो ही नहीं सकता। यदि हम बात को जाने भी दें और केवल यही पूछें कि इस भीषण नर-हत्या से क्या लाभ हुआ, तो उसका भी कोई उत्तर नहीं हो सकता। यदि इन बातों का कोई उत्तर हो सकता है तो वह केवल यही कि बहुत दिनों से मनुष्य में कटने-मरने की जो पाशविक वृत्ति चली आती है, वही अपना प्रभाव दिखला रही थी। जिस प्रकार कुत्ते रोटी के टुकडे अथवा हड्डी के लिए आपस में लड़ते हैं, उसी प्रकार युरोप वाले भी एक दूसरे के अधिकृत देशों पर अपना अधिकार करने के लिए लड़ मर रहे थे। बल्कि एक बात में तो वे इन कुत्तों आदि से भी गये-बीते थे; क्योंकि कुत्ते तो केवल स्वयं ही लड़ते भिड़ते हैं, पर समाज में सर्वश्रेष्ठ कहलाने वाले ये राजनीतिज्ञ आप तो आराम से कुरसियों पर बैठे रहा करते थे, और तरह तरह के तर्क निकाल कर अपने देश-वासियों को आपस में कटने मरने पर उद्यत कर रहे थे।

अगस्त १९१४ में ही कुछ बुद्धिमानों ने यह बात अच्छी तरह

समझ ली थी कि यह युद्ध बहुत ही भीषण और नाशक होगा। यह ठीक है कि युद्ध आरम्भ होने के समय अनेक स्थानों पर सर्व-साधारण एकत्र हो कर युद्ध छिड़ने पर अनेक प्रकार से अपनी प्रसन्नता प्रकट किया करते थे, पर वह प्रसन्नता वास्तविक नहीं थी। वास्तव में बहुत दिनों से उनका ऐसा संस्कार ही किया गया था कि वे युद्ध के नाम पर प्रसन्नता प्रकट करें। उन्हें साम्राज्य-वाद का वह नाशक पाठ पढाया गया था, जिसने उन्हें अन्धा और विवेक-हीन बना दिया था। उनको बड़ी-बड़ी अशाएँ दिलाई जाती थीं। भावी वैभव और सुख-समृद्धि के सब्ज बाग दिखाए जाते थे और उन्हें ले जाकर युद्ध क्षेत्र में बलि चढाया जाता था। और उससे भी बढकर विलक्षण बात यह थी कि उस बलि-दान का व्यय भी एक नहीं अनेक प्रकार से उन्हीं से वसूल किया जाता था। उस समय हेरल्ड बेग्बी नामक एक अंग्रेज लेखक ने कहा था "याद रखो, इस समय तुम जिन लोगों को हजारों नहीं लाखों की संख्या में कटने मरने के लिए जबरदस्ती युद्ध-क्षेत्र में भेज रहे हो, वे ही हमारे समाज के सर्व श्रेष्ठ अंग हैं। इस युद्ध में हम ऐसे लोगों का नाश करने जा रहे हैं जिनमें से बहुत से आगे चलकर दस-बीस बरस में मानव-जाति और समाज के दुःखों को दूर करने के अनेक अच्छे-अच्छे उपाय निकाल सकते हैं और अनेक प्रकार से संसार का कल्याण कर सकते हैं। हम इन आत्माओं का सदा के लिए अन्त करने जा रहे हैं।" इन बेग्बी महाशय की तरह और भी अनेक विद्वान् थे जो समय-समय पर इसी प्रकार अपने राष्ट्रों, राजनीतिज्ञों और देश-वासियों को इसी प्रकार की चेतावनी दिया करते थे। पर आप जानते है कि इन

चेतावनी देने वालों का क्या परिणाम होता था ? ये लोग देश-द्रोही समझे जाते थे और इस चेतावनी देने के अपराध में ही बहुतों को कारावास का दंड मिलता था। जो समाज, जो राष्ट्र अपने शुभचिन्तकों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करते हों, यदि उनकी ऐसी दुर्दशा हो तो कोई बहुत बड़ी बात नहीं है।

मि० विल इरविन नामक एक अमेरिकन सज्जन थे जो अपने देश के किसी पत्र के सम्वाददाता हो कर यूरोप के युद्ध-क्षेत्र में गये थे। सन् १९१५ के मध्य में ही वहाँ उन्हें इस बात का पता लग गया था कि यूरोप की साधारण प्रजा इस महायुद्ध के कारण होने वाले जन-नाश और उसके परिणाम की भीषणता का बहुत कुछ अनुमान करने लग गई है। उस समय उन्होंने लिखा था—"मैंने अंग्रेज अफसरों, सैनिकों और महिलाओं से बात चीत की। फ्रान्सीसी अधिकारियों और साधारण लोगों से भी बातें की। मुझे पता लगा कि सभी लोगों के मन में एक विचार दृढ़ता पूर्वक जमा हुआ है। वे लोग यही सोचकर चकित हो रहे थे कि यदि और कुछ दिनों तक यही अवस्था बनी रही, तो फ्रान्सीसियों, अंग्रेजों और जर्मनों की जाति का क्या परिणाम होगा !" तात्पर्य यह कि उस समय भी लोग यह बात अच्छी तरह समझने लग गये थे कि यह युद्ध देशों और जातियों का सर्वनाश करने-वाला है। पर राजदंड के भय से कोई खुलकर कुछ कह ही नहीं सकता था। राजनीतिज्ञों पर तो युद्ध का भूत सवार था। भला वे किसी की क्यों सुनने लगे ? वे इसीमें देश-सेवा समझते थे और इसीमें मानव-जाति का कल्याण देखते थे। इसमें सन्देह नहीं कि उस समय भी कुछ राष्ट्र ऐसे थे, जो महायुद्ध से अपना

पीछा छुड़ाना चाहते थे। पर अब तो वही बात हो गई थी कि बाबा जी तो कमली को छोड़ना चाहते हैं, पर अब कमली ही बाबा जी को नहीं छोड़ती थी।

आगे चलकर मि० इरविन यह बतलाते हैं कि इस बलिदान के लिए किस प्रकार समाज के अच्छे से अच्छे मनुष्य चुने जाते थे और तैयार करके लड़ाई पर भेजे जाते थे। वे कहते है "यह एक प्रकार से मान. हुई बात है कि जो लोग सबसे अधिक वीर होते हैं, वे वही लोग होते हैं जो शारीरिक और आत्मिक दृष्टि से सर्व-श्रेष्ट होते हैं। अब मशीनों और कलों के द्वारा होने वाले इस युद्ध में आक्रमण तथा दूसरे बड़े-बड़े साहसपूर्ण कार्य करने के लिए वही लोग चुने जाते हैं जो सब से अधिक वीर होते हैं। और इसका परिणाम यह होता है कि वीरों में से ही सब से अधिक जन-हानि होती है। फ्रान्स और जर्मनी आदि देशों में जहाँ ज़बरदस्ती और कानून के बल से सैनिक भरती किये जाते हैं, सैनिक चुनने की ऐसी परिपाटी है, जिसके अनुसार केवल बलवान् ही मरने के लिए भेजे जाते हैं और दुर्बल लोग देश में रह जाते हैं। जिनकी ऊँचाई कम होती है, जिनके रग-पुट्ठे मजबूत नहीं होते, जिनका दिमाग़ ठीक ठीक काम नहीं करता अथवा जो और किसी प्रकार के वंशानुक्रमिक रोगों से पीड़ित होते हैं, वही लोग देश में सन्तान-वृद्धि का काम करने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। और इनके सिवा बाकी जितने आदमी बसते हैं, वे देश के नाम पर मरने के लिए भेज दिए जाते हैं। और फिर सब से अधिक हानि ऐसे ही युवकों की होती है, जिन्होंने अभी तक कोई सन्तान ही नहीं उत्पन्न की होती। और जातीय

वृद्धि की दृष्टि से कदाचित् यही सब से अधिक बुरी और दुःख पूर्ण बात है।

"इस समय १९ और २५ वर्ष के बीच की अवस्था के सभी स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट युवक सेना में काम कर रहे हैं। जबरदस्ती भरती की हुई यूरोप की जितनी सेनाएँ हैं, वे सब उमर के हिसाब से अलग अलग बाँटी हुई हैं। और इनमें से जिन सेनाओं में सब से कम उमर के सैनिक हैं, उन्हीं सेनाओं को सब से आगे बढ़ कर प्रत्यक्ष युद्ध करना पड़ता है जिन लोगों की अवस्था तीस और चालीस वर्ष के मध्य में होती है, वे बहुधा सेनाओं और नगरों आदि की रक्षा के काम पर नियुक्त किये जाते हैं अथवा उनसे युद्ध-सामग्री पहुंचाने का काम लिया जाता है। आगे चल कर जब इस युद्ध में काम आने वाले वीरों की संख्या आदि का हिसाब लगाया जायगा, तब पता चलेगा कि मारे जाने वालों में से अधिकांश तीस वर्ष की अवस्था से कम के ही थे और उनमें भी बहुत से लोग पच्चीस वर्ष से भी कम अवस्था के थे। इसका अर्थ यह है कि साधारणतः चालीस या पैंतालीस वर्ष की अवस्था के लोग जितनी संतान उत्पन्न करके अपने देश की भेंट कर सकते थे, उतनी तो वे कर चुके; और पच्चीस वर्ष से कम अवस्था के लोग एक भी सन्तान न उत्पन्न करने पाए!"

मि० इरविन का ध्यान इस बात पर था कि युद्ध के कारण कितने युवक और सशक्त पुरुषों का नाश हो रहा है। फिशर नामक एक प्रसिद्ध विद्वान् ने इस बात पर विचार किया था कि युद्ध में कितने विद्वानों और बुद्धिमानों का नाश होता है। युद्ध में निहत होने वालों की जो सूचियां समय समय पर प्रकाशित हुआ

करती थीं, उन पर भली भांति विचार करने के उपरान्त उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला था कि इन सूचियों में प्रायः ऐसे ही लोगों के नाम भरे होते हैं, जो यदि युद्ध में काम न आते तो अवश्य ही मानव-जीवन और मानव-जाति का बहुत बड़ा उपकार करते। यदि सरकार को अपनी आर्थिक दशा ठीक रखने का ध्यान होता, तो वह कुछ ऐसे उपाय अवश्य करती जिनसे वे नव-युवक युद्ध की विपत्तियों से बचे रहते, जिनकी श्रेष्ठ मानसिक शक्तियों पर हमारी भावी उन्नति निर्भर थी। पर ऐसी कोई व्यवस्था नहीं की गई और इसलिए अब इस बात का अनुमान करना असम्भव है कि इतने अधिक नवयुवक बुद्धिमानों के नष्ट हो जाने से संसार की कितनी अधिक हानि होगी।"

अमेरिका के प्राणि-शास्त्रवेत्ता मि० एस० के०-हम्फ्रे ने भी इस बात का भली भांति अनुमान कर लिया था कि इस महायुद्ध से बुद्धि-बल का कितना अधिक नाश होगा। उन्होंने लिखा था— "यह कहने में कोई हानि नहीं है कि इस युद्ध में जो करोड़ों आदमी मारे जायँगे, उनमें कम से कम दस लाख आदमी अवश्य ऐसे होंगे, जो बहुत अधिक उच्च और श्रेष्ठ कुलों के होंगे—जिसमें उच्च कोटि का मानसिक बल वंशानुक्रमिक होगा। और ऐसे ही लोगों पर प्रत्येक जाति का भविष्य निर्भर करता है। यह ख़्याल करना गलत है कि आगे चल कर दो चार पीढियों में बचे हुए लोगों से अधिक सन्तानें उत्पन्न करा के वंशानुक्रमिक गुणों की यह घटी पूरी कर ली जायगी, जो लोग गये, वे तो सदा के लिए गये समझिएगा। अब जो लोग बचे हैं, वे अपनी ही तरह कम महत्व की सन्तानें ही उत्पन्न करेंगे। इस हानि की भीषणता अकथनीय है।"

यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ऊपर जो बातें कही गई हैं, वे केवल योद्धाओं के ही सम्बन्ध में हैं। हम अभी कह चुके हैं कि युद्ध में जितने सैनिक मारे गये थे, उनकी अपेक्षा पांच गुने या छः गुने नागरिक भी मरे थे। इसलिए मानव-जाति पर युद्ध का निर्बलता उत्पन्न करने वाला जो प्रभाव पड़ा है, उसका कभी पूरा पूरा अनुमान ही नहीं हो सकता। युद्ध का जो बल-नाशक परिणाम होता है, उसमें केवल दरिद्रता और रोग ही सम्मिलित नहीं है, बल्कि स्नायु आदि पर होने वाला आघात तथा मानसिक शक्ति को नष्ट करने वाली अनेक दूसरी बातें हैं। प्रसिद्ध विद्वान् हैवलॉक एलिस का मत है कि मनुष्यों पर चलने वाले प्रत्येक घातक गोली बराबर दरिद्रता और कष्टों की वृद्धि करती जाती है। यदि युद्ध-क्षेत्र में एक आदमी मारा जायगा, तो उसके कारण देश में पाँच आदमी दुखी या दरिद्र होंगे। अथवा किसी और ऐसी विपत्ति में पड़ेंगे जो किसी न किसी प्रकार से जीवन के लिए घातक होगी।

युद्ध का सब से अधिक भीषण और नाशक प्रभाव बालकों पर पड़ता है। यदि सच पूछिए तो युद्ध-क्षेत्र में भी और देश में भी, घर में भी और बाहर भी, सब से अधिक बालकों का ही बलिदान होता है। नागरिक समुदाय की सब से बड़ी हानि छोटी अवस्था में बालकों के मरने और जन्म-संख्या घटने से ही होती है। इन अबोध शिशुओं का नाश दोहरा होता है। इससे लाखों तो प्रस्तुत बालक मरते हैं और लाखों भावी सन्तान का नाश होता है। प्रायः देखा गया है कि युद्ध के समय अच्छी दशा में रहने वाली स्त्रियों की जनन-शक्ति भी कम होती जाती है। इससे यह सिद्ध होता है

कि युद्ध का मन पर भी बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। और यह प्रभाव यहाँ तक बुरा होता है कि इससे स्त्रियों में किसी अंश में स्थायी ही सही पर बाँझपन अवश्य आ जाता है। प्रो० सरजी नामक एक इटालियन विद्वान् ने इस बात की बहुत दूर तक खोज की है। उनका मत है कि युद्ध में सन्तान उत्पन्न करने वाले नव युवकों का जो नाश होता है, वह तो होता ही है, पर साथ ही जाति सहसा बहुत ही बुरी अवस्थाओं में भी पहुंच जाती है। इन दुरवस्थाओं के कारण मनुष्य के मस्तिष्क, आत्मा और विचारों आदि पर इतना बुरा प्रभाव पड़ता है कि उनमें बहुत कुछ-विकार आ जाता है। इससे मनुष्य में दुर्बलता, चिन्ता, शोक और अनेक प्रकार के कष्ट उत्पन्न होते हैं और इन कष्टों को युद्ध-काल की आर्थिक कठिनाइयाँ और भी भीषण बना देती हैं। और इन सब बातों का राष्ट्रों की आर्थिक अवस्था पर बहुत ही हानि कारक प्रभाव पड़ता है। एक और विद्वान् का मत है कि यूरोप में इस समय अधेड़ और बुड्ढे तो अपेक्षा कृत बहुत अधिक हैं, पर युवकों का नितांत अभाव है। हम अधेड़ लोग शान्ति में रह कर वृद्ध हो जायँगे; पर हमारा जातीय भविष्य बहुत ही बुरा हो जायगा। श्रेष्ठ गुणों वाले लोग तो बहुत कम उत्पन्न होंगे और रद्दी या फालतू आदमियों की संख्या बराबर बढ़ती जायगी।

महायुद्ध के उपरांत यूरोप के प्रायः सभी देशों में करों की बहुत अधिक वृद्धि हो गई है और ये कर प्रायः ऊँची श्रेणी के लोगों से ही लिये जाते हैं। पाँच छः वर्ष पहले लन्दन के Saturday Review नामक एक पत्र में एक लेख निकला था, जिसमें यह बतलाया गया गया था कि युद्ध के कारण करों में जो वृद्धि

हुई है, उसके परिणाम स्वरूप जन्म-संख्या कैसे और कहाँ तक कम होती है। उस लेख का आशय यह था कि आज तक जिस आदमी को दो हजार रुपये वार्षिक आय होती है, उससे छः सौ रुपये कर के रूप में वसूल कर लिये जाते हैं। पर अब रुपये का मूल्य बहुत घट गया है; इसलिए बाकी बचे हुए चौदह सौ रुपयों को क्रय-शक्ति उतनी ही रह गई है, जितनी युद्ध से पूर्व सात सौ रुपयों की थी। इसलिए आज कल जिस आदमी की वार्षिक आमदनी दो हजार रुपये से कम होगी, वह जल्दी विवाह करने का विचार ही न करेगा। यह तो हुई उच्च और मध्यम श्रेणी के लोगों की बात। अब ज़रा दरिद्रों या निम्न कोटि के लोगों की दशा का विचार कीजिए। जीवन के आरम्भ में जिस आदमी के पास कुछ भी न होगा, वह उन्नति करते करते जब दस हजार रुपये वार्षिक कमाने के योग्य होगा, तब तक कदाचित् वह अवस्था पार कर जायगा जिसमें लोग विवाह करते अथवा कर सकते हैं। इससे यह सिद्ध है कि देश में साधारणतः ऐसे मजदूरी पेशा लोगों की सन्तान ही बढ़ेगी, जिनका मानसिक बल बहुत ही साधारण या निम्न कोटि का होगा।

तात्पर्य यह कि इस समय सभी दृष्टियों से यूरोप वाले बहुत ही दुरवस्था में पड़े हुए हैं। सब से पहले वहाँ की राजनीतिक परिस्थिति को ही लीजिए जो परम असन्तोषजनक है। वार्सेल्स की शांति महासभा में जो राजनीतिक व्यवस्थाएँ हुई हैं, वे न तो दृढ़ हैं और न स्थायी। असन्तोष, अशांति, अराजकता और वैमनस्य आदि का अब भी वहाँ वैसा ही राज्य है, जैसा पहले था; बल्कि अनेक अंशों में उससे भी अधिक है। सब के मन में प्रति-

कार की आग भड़क रही है। सब अपना अपना बदला चुकाने के लिए अवसर की ताक में है। कोई यह बात निश्चित रूप से नहीं कह सकता कि यह जबरदस्ती खड़ी की हुई शांति कब तक खड़ी रह सकेगी। ऐसी राजनीतिक परिस्थिति में आर्थिक अवस्था भी किसी प्रकार नहीं सुधर सकती। और यदि किसी प्रकार राज-नीतिक परिस्थिति सुधर भी जाय, तो भी आर्थिक अवस्था का सुधरना बहुत ही कठिन है। शिल्प कला की असीम उन्नति करके यूरोप सारे संसार का एक प्रकार से स्वामि बन बैठा था। वह अपने खाने के लिए अनाज आदि तथा दूसरे कच्चे माल तो और और देशों से मँगा लिया करता था और स्वयं अच्छे अच्छे माल तैयार करके दूसरे देशों को भेजा करता था और उनसे धन वसूल किया करता था। इसका एक अर्थ यह भी था कि यूरोप अब ऐसी परिस्थिति में नहीं रह गया था जिसमें वह अपनी सभी आव-श्यकताएँ आप ही पूरी कर सकता। उसके शिल्पों का जीवन जो कच्चा माल था और उसके गाँव देहात के रहने वाले लोगों के निर्वाह के लिए जिस अन्न की आवश्यकता होती थी, वह कच्चा माल और अन्न दोनों ही उसे बहुत दूर दूर के देशों से मँगाने पड़ते थे और अब भी मँगाने पड़ते हैं।

युद्ध से पहले यूरोप के सारे वैभव का आधार उसका संसार-व्यापी व्यापार था। यह व्यापार एक ऐसी मशीन के रूप में था जिसके सभी कल पुरजे बहुत ही नाजुक और बहुत योग्यतापूर्वक जड़े हुए थे, जो बहुत अधिक और पूरा पूरा काम करती थी और बहुत ही तेजी के साथ चला करती थी। पर महायुद्ध के भारी हथौड़े की चोट से उसके प्रायः सभी कल-पुरजे चूर चूर

हो गये। अब इस मशीन को फिर से तैयार करके काम चलाने के योग्य बनाने में समय लगेगा। यही कारण है कि इधर कुछ दिनों से यूरोप के प्रायः सभी देशों में मँहगी बहुत बढ़ गई है। न तो लोगों को काम मिलता है और न खाने को भोजन। इधर बीच बीच में भीतरी हालत बहुत ही खराब हो गई थी। अभी तक निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि यह अवस्था कब तक सुधरेगी। बहुत सम्भव है कि किसी दिन यूरोप की यह भीतरी दुर्दशा ही उसका बहुत कुछ अनिष्ट कर बैठे।

मि० हर्बर्ट हूवर नामक एक अर्थ-शास्त्रज्ञ कुछ दिनों तक यूरोप के मित्र-राष्ट्रों के खाद्य पदार्थों के व्यवस्थापक थे। उन्होंने यूरोप की परिस्थिति पर भली भाँति विचार करके सन् १९१९ में एक बार कहा था "यूरोप के निर्वाह के लिए जिन पदार्थों की आवश्यकता है, इस समय वे सब पदार्थ जितनी कम मात्रा में उत्पन्न होते हैं, उतनी कम मात्रा में आज तक कभी नहीं पहुँचे थे। इस समय सारे यूरोप में लगभग डेढ़ करोड़ परिवार बिलकुल बेकार पड़े हुए हैं और उन्हें अपने अपने देश की सरकार की ओर से किसी न किसी रूप में बेकारी का भत्ता मिलता है। यूरोप में उत्पन्न होने वाले माल से जितने आदमियों का निर्वाह हो सकता है, उनकी अपेक्षा इस समय यूरोप में प्रायः दस करोड़ आदमी अधिक हैं। बाहर से तो कच्चा माल आना कम हो ही गया है, साथ ही स्वयं यूरोप में भी कच्चे माल की उपज बहुत कम हो गई है। पहले यूरोप वाले अपनी आवश्यकता की बहुत सी चीजें आप ही तैयार कर लिया करते थे, पर अब उनमें से बहुत सी चीजें उन्हें विदेशों से मँगानी पड़ती हैं। युद्ध जिस समय

स्थगित किया गया था, उस समय भी यूरोप में कुछ अधिक ही कच्चा माल तैयार होता था। पर अब उस समय से भी कम कच्चा माल उपज रहा है। वह इतना कम है कि कभी उससे पूरा पूरा निर्वाह हो ही नहीं सकता। यदि इस समय उपज जल्दी जल्दी बढ़ाई न जायगी तो शीघ्र ही सारे यूरोप में ऐसी भीषण राजनीतिक और और आर्थिक हलचल मचेगी, कि जिससे कल्पनातीत जन-हानि होगी।

यद्यपि सि० हर्बर्ट हूवर की यह भविष्यद्वाणी आगे चलकर पूरी पूरी ठीक नहीं उतरी, और यूरोप के राजनीतिज्ञों ने यथा शक्ति उसे बहुत कुछ सँभाल लिया, तो भी यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध होती है कि महायुद्ध के उपरान्त यूरोप की परिस्थिति बहुत अधिक भीषण हो गई थी और अब तक भी उसमें बहुत ही थोड़ा सुधार हुआ है। हमारा उद्देश्य तो केवल यह दिखलाना है कि यूरोप पर महायुद्ध का कितना भीषण परिणाम हुआ और वह उद्देश्य इतने से ही सिद्ध हो जाता है। महायुद्ध से यूरोप की बहुत अधिक हानियाँ हुई हैं और उनकी सहज में पूर्त्ति नहीं हो सकती। बहुत से सशक्तों और नवयुवकों के मारे जाने से उसकी दशा और भी खराब हो गई है और उसका भीषण परिणाम उसे आगे चलकर और भी अधिक भोगना पड़ेगा।

यूरोप की ये जो कुछ हानियाँ हुई हैं, वे तो हुई ही हैं, पर साथ ही उसका बहुत कुछ नैतिक पतन भी हो गया है और बराबर होता जा रहा है। आप यूरोपवालों से यह आशा नहीं रख सकते कि विपत्ति के समय अपनी रक्षा करने के लिए वे केवल नीति का ही सहारा लेंगे। एक तो पहले से ही यूरोपवालों का

बहुत अधिक नैतिक पतन हो चुका है। दूसरे, इस समय इतनी भीषण विपत्ति पड़ने पर तो वे उससे अपना उद्धार करने के लिए न जाने कितनी नई अनीतियाँ करने लगेंगे; और जिस प्रकार हो सकेगा, अपनी क्षति की पूर्त्ति करना चाहेंगे। यह नैतिक पतन नये सिरे से आरम्भ भी हो गया है। व्यापार आदि में यूरोपवाले तरह तरह की बेईमानियाँ करने लग गये हैं। जरमनी वाले अपना माल बेचने के लिए उस पर "इंगलैण्ड में बना" की छाप लगाते हैं और मैन्चेस्टर वाले ऐसे मोटे कपड़े तैयार करते हैं जो देखने में भारत के बने जान पड़ते हों। अन्दर ही अन्दर इसी प्रकार की सैंकड़ों, हजारों बातें होने लग गई हैं जिनका सर्व-साधारण को जल्दी पता ही नहीं लग सकता। एक ओर साम्राज्य-वृद्धि का भूत फिर से लोगों पर सवार होने लगा है, तो दूसरी ओर बोलशेविज्म के नाम पर अनेक प्रकार के अनर्थ होने लगे हैं। तात्पर्य यह कि जीवन के सभी क्षेत्रों में ऐसी विलक्षण हलचल मच गई है कि बस ईश्वर ही रक्षक है।

अनेक विद्वानों का यह मत है और वह बहुत ठीक है कि युद्ध-काल में युद्ध के कारण जो हानियाँ होती हैं, वे उन हानियों के मुकाबले में कुछ भी नहीं होतीं जो युद्ध के उपरान्त होने लगती हैं। युद्ध की सारी भीषणता तो उसके समाप्त हो जाने पर ही अपनी विकराल मूर्त्ति दिखलाना आरम्भ करती है। युद्ध के पश्चात् का काल ही सर्व साधारण के लिए सबसे अधिक भीषण होता है। युद्ध के समय तो किसी को कुछ देखने-सुनने का अवसर ही नहीं मिलता। और यदि अवसर मिले भी तो कई बातें ऐसी होती हैं, जिनके कारण वह भीषणता किसी को जल्दी दिखलाई

ही नहीं देतीं। युद्ध के उपरान्त एक और बात होती है। वह यह कि लोगों को अपनी क्षति-पूर्त्ति के लिए उद्योग करने के सिवा और कोई अच्छा काम करने का अवसर ही नहीं मिलता। और यदि कुछ करने का अवसर मिल भी गया, तो बेईमानी, दगाबाजी, चालाकी और छल-कपट अपना राज्य जमाने लगते हैं। यही सब युद्ध के भीषण परिणाम हैं जो इस समय यूरोप भोग रहा है और जो अभी आगे चलकर और बहुत दिनों तक उसे भोगने पड़ेंगे।

महायुद्ध की नाशकता का वर्णन करते हुए लन्दन के एक पत्र में लिखा गया था कि जिन बातों की रक्षा करने के लिए हमारे असंख्य अच्छे अच्छे सिपाही कट मरे, स्वयं महायुद्ध ने ही उन सब अच्छी अच्छी बातों का नाश कर दिया। इस युद्ध ने जितने प्रश्नों का निराकरण किया, उसकी अपेक्षा कहीं अधिक नये प्रश्न उपस्थित कर दिये। युद्ध के कारण इङ्गलैण्ड का जितना अधिक नाश हुआ है, उसकी रक्षा के लिए हम एक दरजन बड़े बड़े गिरजे बलि के रूप में दे सकते थे। यदि हो सकता तो हम बहुत प्रसन्नता से अपने दस अच्छे से अच्छे गिरजे बदले में हिंडनबर्ग के तोपखाने से उड़ाए जाने के लिए दे सकते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वेस्ट मिनिस्टर एब्बे दे देना इस बात से कहीं अच्छा है कि फिर हमारे पास इस योग्य आदमी ही न रह जायं जो वहाँ गाड़े जा सकें!

महायुद्ध के उपरान्त से यूरोप सचमुच बहुत ही भीषण और पतित परिस्थिति में से गुजर रहा है। उसकी इस समय की अवस्था न तो सन्तोषजनक ही है और न उत्साहवर्धक ही। लोगों

का सारा उत्साह, सारा जोश ठंडा पड़ गया है। उनकी दशा मुरदों की सी हो रही है। बड़े बड़े सेनापति निकल गये और बड़े बड़े राज्य उलट गये। युद्ध समाप्त होते ही अपनी अपनी भीषण हानि देखकर सब लोग ठंडे हो गये। यूरोप परम दुर्बल और परम शिथिल हो गया है। उसे अपना भविष्य देखकर भय लगता है। पर तमाशा यह है कि अब भी उन्हीं विचारों, उन सिद्धान्तो में निरन्तर वृद्धि ही होती जाती है जिनके कारण गत महायुद्ध हुआ था। इससे तो यही धोखा होने लगता है कि कदाचित् यूरोप वाले यह समझते हैं कि हम और हमारी सभ्यता दोनों अमर हैं। अभी तक यह बात उनकी समझ में नहीं आई कि संसार की सभी चीजें समय पाकर नष्ट हो जाती हैं। काल सभी चीजो को अपने उदर में रख लेता है। कोई चीज इतनी बड़ी नहीं हो सकती जो उसके उदर में न समा सके।

यूरोप की सैनिकता बहुत अधिक थक जाने के कारण थोड़ी देर के लिए बैठ गई है। उसकी आर्थिक कठिनाइयाँ चरम सीमा को पहुँच चुकी हैं, और उसकी मानसिक दुरवस्था का तो कहीं ठिकाना ही नहीं है। उसकी सभ्यता के सभी अंग बुरी तरह से क्षत-विक्षत हो चुके हैं। शिल्प कला का नाश हो चुका है। सारा धन स्वाहा हो चुका है। सभी राष्ट्र दीवालिये हो रहे हैं। यह सब कुछ है, पर फिर भी अभी तक रण-चण्डी तृप्त नहीं हुई है। अभी तक लोग एक दूसरे से बदला लेने की चिन्ता में ही लगे हुए हैं। अभी तक साम्राज्यवाद का भूत उनका पीछा नहीं छोड़ रहा है। न जाने यह भूत इस गोरी सभ्यता का और उसके साथ साथ शेष संसार का अभी और कितना नाश करेगा ! यह गोरी सभ्यता

ठीक रास्ते पर तो आने से रही; इसलिए हम अधिक से अधिक यही कह सकते हैं कि ईश्वर ऐसी सभ्यता से शीघ्र ही इस संसार की रक्षा करे।

गोरों की एकता का नाश

(६)

गत यूरोपीय महायुद्ध के जितने भीषण परिणाम हुए अथवा हो सकते हैं, प्रायः उन सब का उल्लेख हम पिछले प्रकरण में कर चुके हैं। पर उसमें एक बात ऐसी है, जो बहुत से अंशों में महा-युद्ध का कारण भी थी और जो महायुद्ध की समाप्ति पर उसके परिणाम स्वरूप और भी बढ़ गई है। अर्थात् महायुद्ध का जो मूल कारण था, वह उसके समाप्त होने पर और भी बढ़ गया है। हमारा तात्पर्य गोरों की एकता के नाश से है। गोरों में पारस्परिक वैमनस्य बहुत बढ़ गया था, जिसके कारण गत महायुद्ध हुआ था; और अब भी वह वैमनस्य बराबर बढ़ता ही जाता है, जिसके कारण लोगों को भविष्य में और भी अधिक भीषण महायुद्ध होने की आशंका हो रही है।

उन्नीसवीं शताब्दि में सभी गोरी जातियों को अपनी एकता का बहुत अधिक ध्यान रहता था। जिन बड़े-बड़े आविष्कारकों तथा। साम्राज्य निर्मायकों ने संसार में इस सिरे से उस सिरे तक गोरी सभ्यता और गोरे शासन का विस्तार किया था, वे समझते थे कि हम सब लोग एक ही जाति और एक ही महादेश की ओर से

अपनी सभ्यता और अपने प्रभुत्व का विस्तार करने तथा शेष सारे संसार का कल्याण करने के लिए अवतार धारण करके आये हैं। यह ठीक है कि समय समय पर उन लोगों में परस्पर प्रतिस्पर्धा भी होती थी और राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में उन लोगों में झगड़े भी होते थे। पर फिर भी जब वे लोग शान्त हो कर बैठते थे, तब यही समझते थे कि यदि हममें से किसी एक जाति के राज्य का विस्तार होगा, तो वह हमारी सभी जातियों के प्रभुत्व का विस्तार होगा। उस समय यूरोप के प्रायः सभी देशों के निवासी यह समझते थे कि हम सब लोग एक ही पूर्वजों की सन्तान हैं, और हम सब लोगों का एक ही प्रधान उद्देश्य था--सारे संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना। बहुत दिनों तक वे लोग इसी उद्देश्य की सिद्धि में लगे रहे और बहुत कुछ सफल-मनोरथ भी हुए। परन्तु जब उनकी उन्नति पराकाष्ठा को पहुँच गई और उसका अन्त समीप आने लगा, तब उनका यह एकतावाला भाव भी जाता रहा। और यही बहुत से अंशों में उनके नाश और पतन का भी कारण हुआ।

धीरे-धीरे यूरोप में राष्ट्रीय साम्राज्यवाद का प्रभुत्व स्थापित होने लगा। कुछ दूसरे राष्ट्रों को अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार करते देखकर उनके प्रतिस्पर्धियों से ईर्ष्या का भाव जागृत होने लगा। वे अपने ही भाइयों की इतनी अधिक समृद्धि न देख सके और आप भी उन्हींके समान अपने-अपने साम्राज्य के विस्तार की चिन्ता में लग गये। इस भाव ने बढ़ते-बढ़ते इतना विकराल रूप धारण किया कि यूरोप के सभी राष्ट्र यह चाहने लगे कि सारी पृथ्वी पर एक मात्र हमारा ही राज्य हो जाय, संसार

में और कोई दूसरा शासक हमें दिखलाई ही न पड़े। रूस का विस्तार तो पहले से ही बहुत अधिक था और वह उस देश की भौगोलिक अवस्था के कारण था। पीछे से इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने भी अपने-अपने साम्राज्य का बहुत अधिक विस्तार कर लिया। विशेषतः इंग्लैण्ड का राज्य-विस्तार तो एक प्रकार से अभूत और अश्रुतपूर्व था। यह देखकर जर्मन और स्लाव आदि जातियों से न रहा गया। वे अपने-अपने साम्राज्य के विस्तार के उपाय सोचने, ढूँढने और निकालने लगीं।

उनका यह सोचना एक प्रकार से स्वाभाविक भी था। जब वे यह देखती थीं कि प्रायः और सभी जातियाँ दूर दूर तक अपने राज्य का विस्तार कर रही हैं और विपुल धन-सम्पत्ति की स्वामिनी हो रही हैं तब उनका भी उसी प्रकार राज्य-विस्तार के लिए उत्सुक होना बहुत ही स्वाभाविक था। उनके सामने जो उदाहरण उनके जाति-भाइयों ने ही उपस्थित किया था उसका वे अनुकरण क्यों न करतीं ? और फिर विशेषतः ऐसी दशा में जब कि स्वयं उनका देश उनका रहन-सहन और पालन-पोषण आदि के लिए उन्हें यथेष्ट नहीं दिखाई देता था। ऐसी दशा में युद्ध छेड़ने के लिए जर्मनी या आस्ट्रिया उतना ही अपराधी ठहराया जा सकता है, जितने अपराधी इङ्गलैण्ड, फ्रान्स या रूस हैं अथवा हो सकते हैं। इस विषय में यूरोप की किसी एक जाति का अपने आप को निर्दोष और दूसरी जाति को दोषी बतलाना कदापि न्याय-संगत नहीं हो सकता।

अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए इधर कुछ दिनों से रूस वाले यह कहने लग गए थे कि रूस का सम्बन्ध यूरोप की

अपेक्षा एशिया से कहीं अधिक है। भीतरी बात यह थी कि वे चीन पर अपना राजनीतिक अधिकार जमा कर एशिया तथा यूरोप के अन्यान्य देशों में उपद्रव खड़ा करना चाहते थे। रूस वालों की इस चाल से सबसे पहले और सबसे अधिक हानि अँगरेजों की ही हो सकती थी; क्योंकि उनका भारतीय साम्राज्य खतरे में पड़ जाता था। इसलिए उन्होंने इसके उत्तर में जापान के साथ मेल-जोल पैदा कर लिया। जिस समय रूस-जापान युद्ध हुआ था, उस समय और किसी शक्ति ने रूस की सहायता नहीं की थी। वह बिल्कुल अकेला पड़ गया था। युद्ध के अन्त में वे एशिया के छोटे से राष्ट्र जापान से हार भी गया। उसकी इस हार से गोरों के प्रभुत्व और प्रतिष्ठा को भारी धक्का पहुचा। एशिया के राष्ट्रों और निवासियों के मन में एक नवीन आशा और नवीन उत्साह का संचार हो गया। पहले तो वे लोग यह समझते थे कि इन गोरों को युद्ध में कभी कोई जीत ही नहीं सकता। पर अब उनकी वह भावना जाती रही। वे समझने लग गये कि यदि हम लोग भी प्रयत्न करके अपने अपने राष्ट्र की उसी प्रकार उन्नति करें, जिस प्रकार जापान ने की है, तो समय पड़ने पर हम भी गोरों पर उसी प्रकार विजयी हो सकते हैं। वास्तव में यह अप्रतिष्ठा सभी गोरी जातियों की हुई थी। पर उस समय अपने स्वार्थ के कारण अन्यान्य जातियों ने यही समझा था कि यह अप्रतिष्ठा केवल रूस की ही हुई है, और इसीलिए वे मन ही मन बहुत प्रसन्न हुई थीं। अपनी इस प्रसन्नता पर अब उनमें के कुछ लोग पछताने भी लगे हैं और आपस में एक दूसरे पर अदूरदर्शिता का अभियोग भी लगाने लगे हैं। पर अब इन सब बातों से क्या हो

सकता है। अब लोगों की दृष्टि में गोरे पहले की भाँति न तो देवता ही रह गये हैं और न अजेय ही। अब सब लोगों पर उनका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो गया है।

सन् १९०२ में अंगरेजों ने पहले पहल जापान के साथ संधि की थी। उस संधि का मुख्य उद्देश्य यह था कि किसी प्रकार रूस के बढ़ते हुए साम्राज्य को रोका जाय। यदि उस समय की परिस्थिति और इंग्लैण्ड के हित पर ध्यान दिया जाय, तो उसने जिस मार्ग का अवलम्बन किया था वह अनिवार्य था और उसके लिए वह दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। पर इंगलैंड और जापान में फिर दोबारा जो संधि हुई, उसका परिणाम और प्रभाव बहुत दूर तक पहुँचता था। इस दूसरी संधि की निंदा एशिया के पूर्वीय देशों में रहने वाले प्रायः सभी गोरों ने, जिनमें कुछ अंगरेज भी सम्मिलित थे, एक स्वर से की थी।

एक ओर रूस को और दूसरी ओर इंग्लैंड को इस प्रकार स्वार्थ-साधन में रत देखकर जर्मनी ने भी हाथ-पैर फैलाये। उसे रूस और फ्रान्स से तो भय था ही, इसलिए वह अन्दर ही अन्दर ऐसी तैयारियाँ करने लगा जो अपने पड़ोसियों के साथ युद्ध छिड़ने पर काम आ सकें। इसके अतिरिक्त उसने तुर्कों के साथ भी जोड़-तोड़ लड़ाना आरम्भ किया और मध्य आफ्रिका में हबशियों का एक सैनिक साम्राज्य स्थापित करने के उपाय सोचने लगा। अब भला फ्रान्स क्यों पिछे रहने लगा था! ये सब रंग ढंग देख कर उसने यूरोप में होने वाले युद्ध की आशंका से लड़ने के लिए कृष्ण, धूसर और पीत वर्ण के लोगों को अपनी सेना में भरती करना आरम्भ किया। और अन्त में इटली ने ट्रिपोली पर

आक्रमण करके मुसलमानों को भड़का दिया। इस प्रकार यूरोप के प्रायः सभी राष्ट्रों ने केवल अपने अपने हित पर ध्यान रखकर उसीकी साधन-सामग्री एकत्र करना आरम्भ कर दिया। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि महायुद्ध आरम्भ होने से पहले यूरोप के गोरे देशों में आपस में घोर वैमनस्य और द्वेष की अग्नि प्रज्वलित हो उठी थी। आज कल के सयाने और दूरदर्शी बनने वाले कुछ राजनीतिज्ञ उक्त गोरे राष्ट्रों के इन सब कृत्यों की निन्दा करते हैं और उन्हें मूर्ख ठहराते हैं। पर अब इन सब बातों से होता ही क्या है!

यह ठीक है कि उक्त राष्ट्रों के इन कृत्यों के लिए वहाँ के प्रधान मन्त्री तथा साम्राज्यवादी ही मुख्य रूप से उत्तरदायी थे। सर्व-साधारण तो उनके ऐसे कृत्यों की निन्दा ही करते थे। पूर्वी, एशिया में रूस और इंग्लैण्ड ने जिस नीति का अवलम्बन किया था, उस पर प्रायः सभी स्थानों के गोरों ने बहुत अधिक आक्षेप किये थे। जर्मनी ने तुर्की के साथ जो मेल-जोल बढ़ाया था, उसकी निन्दा स्वयं कुछ जर्मनों ने भी की थी। और इटली ने त्रिपोली पर जो आक्रमण किया था, उस पर भी बहुत कड़ी टीका-टिप्पणी हुई थी। तात्पर्य यह कि उस समय भी यूरोप वाले यह बात अच्छी तरह समझते थे कि हमारे राष्ट्र बहुत ही बुरे मार्ग पर चल रहे हैं। पर उस समय वे लोग टीका-टिप्पणी, निन्दा और आक्षेप आदि करने के सिवा और कुछ कर ही नहीं सकते थे। जिन राजनीतिज्ञों और राज-कर्मचारियों के हाथ में राष्ट्रों की बाग-डोर थी, उन सब पर साम्राज्य-वृद्धि का ऐसा भूत सवार था कि उन्हें अपने तत्कालीन स्वार्थ को छोड़ कर दूर तक देखने का अव-सर ही नहीं मिलता था।

जिस समय रूस-जापान युद्ध के कैदी पहले पहल जापान के तट पर जहाज पर से उतारे गये थे, उस समय दृश्य बहुत ही विलक्षण और प्रभावोत्पादक था। जापान तथा एशिया के दूसरे देशों के निवासियों के लिए तो वह इसलिए विलक्षण और प्रभावोत्पादक था कि वह पहला ही अवसर था जब कि एशिया के एक छोटे से राष्ट्र ने युद्ध में गोरे कैदियों को पकड़ा था और उन्हें अपने यहाँ ला कर रखा था। पर गोरों के लिए भी वह दृश्य कम अद्भुत और अभूतपूर्व नहीं था। यद्यपि यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों के राजनीतिज्ञ और साम्राज्य-संचालक मन ही मन रूस की हार से प्रसन्न हो रहे थे, तथापि उस समय जो गोरे जापान के समुद्र तट पर उपस्थित थे, उनका हृदय उस समय करुणा और लज्जा से परिपूर्ण हो रहा था। एक फ्रान्सीसी लेखक पर उस दृश्य का बहुत ही करुणापूर्ण प्रभाव पड़ा था। उसने उस समय लिखा था "यह अपमान केवल रूसियों का ही नहीं था, बल्कि समस्त यूरोपियनों का था। गोरे लोग पराजित हो कर बन्दी हुए थे और पीत वर्ण के स्वतंत्र और विजयी योद्धा उन्हें पकड़ लाये थे। इसका केवल यही अर्थ नहीं था कि जापान से रूस पराजित हुआ था. बल्कि इसमें एक और बहुत बड़ी और बिलकुल नई बात थी। यह एक संसार की दूसरे संसार पर होने वाली विजय थी। इधर शताब्दियों से एशिया जो अपमान सहता आ रहा था, यह उसी का एक बदला था। इसके कारण एशिया वालों में नई आशाओं का संचार हो रहा था। जो गोरे अब तक प्रायः बिना लड़े भिड़े ही सब जगह विजय प्राप्त कर लिया करते थे, उन्हीं गोरों पर एशिया वालों का यह पहला आघात था। उस समय वहाँ जापा-

नियों की वहाँ भीड़ लगी हुई थी, वह तो ये सब बातें समझती ही थी, साथ ही एशिया के दूसरे देशों के जो निवासी वहाँ उपस्थित थे, वे भी एक प्रकार से अपनी विजय समझ रहे थे। मैं तो उस समय यह बात बिलकुल भूल ही गया था कि ये कैदी रूसी हैं। मुझे केवल यही स्मरण रहा कि ये लोग गोरे हैं। साथ ही वहाँ और जो यूरोपियन उपस्थित थे, वे चाहे रूस के विरोधी ही क्यों न रहे हों, पर फिर भी उन्हें यह दृश्य देख कर बहुत अधिक दुःख हुआ था। उन्हें भी विवश हो कर यह समझना पड़ा था कि ये कैदी हमारी ही जाति और हमारे ही वर्ण के हैं। हम सब लोगों के मन में यह विचार इतनी दृढ़ता से अंकित हुआ था कि जब हम लोग कोबी जाने के लिए गाड़ी पर सवार होने लगे, तब सब लोग एक साथ एक ही कमरे में जा बैठे।"

जो लोग अपने भाइयों की दुर्दशा देखकर फूले नहीं समाते, उन्हें उक्त वर्णन से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इन गोरों को अपनी जातीयता का कितना अधिक ध्यान और कितना अधिक अभिमान रहता है। उनके इस अभिमान का एक मात्र कारण यही था कि बहुत दिनों से वे लोग अपने आपको अजेय समझते आ रहे थे। इन गोरों का यह विश्वास सा हो गया था कि संसार के सारे प्रदेश हमारे अधीन रहने के लिए और संसार की सारी जातियाँ हमारा दासत्व करने के लिए बनाई गई हैं। ये लोग समझते थे कि हमारा यह अधिकार, यह प्रभुत्व सदा अटल रूप से बना रहेगा, और जब उनके इस विश्वास पर आघात लगा, जब उन्हें इसके विपरीत घटनाएँ दिखाई पड़ीं, तब उनकी असीम निराशा हुई।

परन्तु रूस की इस हार से भी यूरोपवालों की आँखें नहीं खुलीं। बात यह है कि मद की मात्रा जितनी ही अधिक होती है, होश में आना भी उतना ही कठिन होता है। यूरोपवाले भी बहुत अधिक मत्त हो रहे थे, इसलिए उनकी आँखें खुलने में भी अभी देर थी। इसी लिए यह अवस्था महायुद्ध के समय तक भी ज्यों की त्यों बनी रही। जब महायुद्ध आरम्भ हुआ, तब भी यूरोप के सब राष्ट्र आपस में उतने ही दूर थे, जितने रूस-जापान युद्ध के समय थे, बल्कि अनेक अंशों में उनकी पारस्परिक दूरी और भी बढ़ गई थी। और इसका कारण भी वही अधिकार-मद और स्वार्थ था। दोनों ही पक्ष प्राण-पण से एक दूसरों को नामशेष करने की कसम खा कर ही घर से निकले थे। अपने विपक्षी को कोई इस संसार में जीवित छोड़ना ही नहीं चाहता था। और फिर आखिर युद्ध में और होता ही क्या है। अपने शत्रु का पूरा-पूरा नाश करने के लिए ही तो युद्ध किया जाता है। मुसलमानों के आगमन से कुछ पहले और उनके आ चुकने के बहुत बाद तक भी भारतवासी और क्या किया करते थे? यही गृह-कलह और पारस्परिक नाश ही तो उनका मुख्य कार्य रह गया था। ईश्वरीय सृष्टि की योजना ही कुछ ऐसी है कि जब कोई शक्ति बहुत बलवती हो जाती है और कोई दूसरी शक्ति उसका सामना करने के योग्य नहीं रह जाती, तब अन्त में वही शक्ति अपना भी नाश कर लेती है। यदि महायुद्ध के समय इन गोरों को इस बात का ध्यान होता कि हम लड़ भिड़ कर अपनी ही जाति और अपने ही वंश का नाश कर रहे हैं, तो फिर आखिर उनका नाश और किस प्रकार होता? इस युद्ध में केवल योद्धा और राजनीतिज्ञ ही अपने

भाइयों का नाश करने में नहीं लगे थे, वल्कि बड़े-बड़े वैज्ञानिक और विद्वान् भी अपनी ओर से उन्हें पूरा-पूरा प्रोत्साहन दे रहे थे और यथासाध्य ऐसी सामग्री प्रस्तुत करते थे जो उनकी इस आत्म-हत्या में सहायक होती थी।

इस आत्मघातक युद्ध में कोई उपाय, कोई युक्ति कोई प्रयत्न बाकी नहीं छोड़ा गया था। जिससे जो कुछ हो सकता था, वह कर ही गुजरता था। कोई धूसर वर्णवालों को अपने पक्ष में मिलाए रखने के लिए उन्हें तरह तरह के प्रलोभन देता था, तो कोई कृष्ण वर्णवालों को बढ़ावा देकर अपना साथी बनाता था। यहाँ तक कि एक ही पक्ष के अनेक राष्ट्र आपस में भी अनेक प्रकार के छल-कपट किया करते थे। इधर किसी राष्ट्र से कुछ समझौता किया जाता था, तो उधर दूसरे राष्ट्र से उसके बिलकुल विपरीत निश्चय होता था। आज कुछ और कहा जाता था, तो कल कुछ और ही राग अलापा जाता था। तात्पर्य यह कि महायुद्ध के पाँच वर्षों में सारे संसार ने देख लिया कि इस गोरी सभ्यता का क्या स्वरूप है। जिन लोगों को यह विश्वास था कि गोरे बहुत ही सच्चे, परोपकारी, सभ्य और योग्य होते हैं, उनकी आँखों पर से इस युद्ध ने वह पुराना परदा हटा दिया। जो लोग इनसे किसी प्रकार की आशा रखते थे, वे महायुद्ध में इनका आचरण देखकर अपनी तकदीर ठोंकने लगे। और जो लोग कुछ होशियार थे, वे इस अवसर से शिक्षा ग्रहण करने लगे और यदि हो सका तो लाभ भी उठाने लगे। इन लाभ उठाने वालों में मुख्य जापान था जिसने यूरोप वालों को आपस में कटते मरते देखकर चीन को अपने वश में करने का अच्छा अवसर पाया था। यह

अवस्था देख कर कुछ यूरोपियन चिन्तित भी हुए थे। उन्होंने समझ लिया था कि इस युद्ध का यहीं अन्त नहीं है, चाहे कोई पक्ष विजयी हो, पर आगे चल कर यूरोप वालों को कई भीषण युद्धों में प्रवृत्त होना पड़ेगा। जो परास्त होगा, वह आगे चलकर अपना बदला चुकाने में कोई बात बाकी न छोड़ेगा। महायुद्धों का एक ताँता सा लग जायगा जो अन्त में यूरोप का सर्वनाश करके छोड़ेगा। उस समय इन लोगों को साथ ही साथ यह भी चिन्ता हो रही थी कि इस ससय अन्यान्य वर्णों की जो जातियाँ हमारे अधीन हैं, वे भी हमारी दुर्बलताओं से परिचित हो जायँगी और समय पाकर हमारे अधिकार से निकल जायँगी। इस प्रकार यूरोपियनों की सारी प्रधानता नष्ट हो जायगी। उन लोगों का यह सोचना भी बहुत अंशों में ठीक था। इस समय कुछ ऐसे ही लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं। संसार पर से गोरों का आतङ्क बराबर नष्ट होता जाता है। उनकी चालबाजियाँ भी सब लोगों को मालूम हो गई हैं और उनका विश्वास भी जाता रहा है। उधर महायुद्ध में जो जातियाँ परास्त हुई थीं, वे जेता जातियों से बदला चुकाने के लिए दाँत पीस रही हैं। गोरों को इस समय घर और बाहर सभी जगह सर्वनाश सामने दिखाई दे रहा है। पर वह सर्वनाश इतना भीषण है कि यूरोप वाले आँख भर कर उसकी ओर अच्छी तरह देख भी नहीं सकते। अथवा यों कहना चाहिए कि उस भावी सर्वनाश ने ही उनको अन्धा बना दिया है। वे उसकी तरफ से जान बूझ कर आँखें मूँद लेते हैं और अपने नाशक मार्ग जोरों से बढ़ते चले जाते हैं।

गत यूरोपीय महायुद्ध ने गोरों के एक बहुत बड़े अभिमान

का भी नाश किया था। पहले यह गोरे अपने सामने अन्य वर्ण वालों को कुछ समझते ही नहीं थे। वे अपने आप को देवता और दूसरों को निरा पशु, बल्कि उससे भी कुछ और गया बीता समझते थे। जब दो गोरी जातियाँ कभी आपस में लड़ती थीं, तब केवल गोरे सैनिकों से ही काम लिया करती थीं। अपने गोरे भाइयों के मुकाबले में वे अन्य वर्णवाले दासों को ला कर खड़ा करना अपना और अपने भाइयों का अपमान समझती थीं। वे यह नहीं देख सकती थीं, कि अन्य वर्ण का कोई आदमी हमारे मुकाबले में या कन्धे से कन्धा भिड़ा कर हमारे साथ आकर खड़ा हो और हथियार चलावे। दक्षिण आफ्रिका में जिस समय बोअर युद्ध हुआ था, उस समय अंग्रेज़ लोग इस बात के घोर विरोधी थे कि अपने गोरे शत्रुओं का मुकाबला काले हब्शियों अथवा धूसर वर्ण के भारतवासियों से कराया जाय। एक बार जब फ्रान्सीसियों ने यूरोप में लड़ाने के लिए आफ्रिका के काले हब्शियों की सेना संघटित करने का विचार किया था, तब प्रायः सभी यूरोपियनों ने उनके इस विचार का घोर विरोध और निन्दा की थी। तात्पर्य यह कि उस समय तक यूरोप वाले यही समझते थे कि आखिर तो हम सब लोग एक ही हैं। फिर इस प्रकार अन्य वर्ण के लोगों को युद्ध-क्षेत्र में बुला कर व्यर्थ आप ही अपना अपमान क्यों करें! पर गत यूरोपीय महायुद्ध के समय उनका यह सारा अभिमान चूर्ण हो गया था। उस समय सभी योद्धा राष्ट्रों ने अन्य वर्णों के सैनिक जितने अधिक संख्या में हो सकते थे, भरती किये थे। और उनके इस कृत्य की उन राष्ट्रों की प्रजाओं ने बहुत प्रशंसा की थी! काले, पीले और भूरे सभी रंगों के लोग बहुत आदर-सत्कार के साथ

सेना में भरती किये जाते थे। आज आप को भारत में सैंकड़ों हजारों ऐसे सिक्ख, राजपूत, गोरखे और पठान आदि मिलेंगे जो अभिमानपूर्वक बहुत ही विस्तार के साथ यह बतलावेंगे कि फ्रान्स के युद्ध-क्षेत्र में पहुंचने से पहले और लौटने के समय फ्रान्सीसी महिलाओं ने उनकी कितनी आव-भगत की थी, उन्हें कितने प्रेम से मालाएँ पहनाई थीं और उन्हें कितनी आपसदारी दिखला कर जल-पान कराया था।

जब जर्मनी ने तुर्कों को युद्ध-क्षेत्र में ला कर मित्र राष्ट्रों के सामने खड़ा किया था, तब मित्र राष्ट्रों के सैनिक और प्रजा वर्ग ने बहुत असन्तोष प्रकट किया था। और जब मित्र राष्ट्रों ने उनके सामने सिंघालियों और गोरखों को ला खड़ा किया, तब जरमनों के क्रोध का ठिकाना न रह गया! एक जरमन अफसर ने तो भीषण और रक्त-पिपासु गोरखों की बहुत ही अधिक निन्दा की थी। उसने उनका बहुत ही निकृष्ट चित्र खींचते हुए उन्हें "कुत्ता" और "शैतान" तक कह डाला था। जब अंग्रेजों ने आफ्रिका के हबशियों को युद्ध-क्षेत्र में लाने का विचार किया था, तब फिर जर्मनों में घोर असन्तोष फैला था। पर कोई किसी के असन्तोष और विरोध पर ध्यान नहीं देता था। सब लोग वही काम करते थे और साथ ही सभी उस काम के लिए एक दूसरे की निन्दा भी करते थे। एक ओर तो ये मत्त गोरे अन्य वर्णों के मनुष्यों को मनुष्य नहीं समझते थे और दूसरी ओर उनके बिना उनका काम भी नहीं चलता था। इसलिए अन्त में धीरे धीरे उनकी घबराहट दूर होने लगी और सभी योद्धा राष्ट्र युद्ध-क्षेत्र में अच्छी तरह अन्य वर्णों के लोगों को भरने लग गये। उस घोर संकट के

समय गोरों को अन्य वर्णों के लोगों की थोड़ी बहुत कदर होने लग गई थी। पर यह कदर भी बस अपने मतलब के लिए ही थी। जब उनका वह मतलब निकल गया, तब फिर सारे संसार में गोरों के हाथों उनकी फिर पहले की सी दुर्दशा होने लगी।

जर्मनी वाले यूरोप के मुख्य युद्ध-क्षेत्र में तुर्की सैनिकों को अधिक संख्या में नहीं ला सकते थे; इसलिए उन लोगों ने और ही प्रकार से बदला लेना चाहा। उन्होंने तुर्की को भी अपना साथी बनाकर युद्ध में सम्मिलित कर लिया। उस समय एक जर्मन ने कहा था—तुर्की में एनाटोलिया और मेसोपोटामिया हैं। एनाटोलिया सूर्योदय का प्रदेश है और मेसोपोटामिया प्राचीन स्वर्ग है। ईश्वर करे, ये दोनों नाम हमारे लिए शुभ हों। ईश्वर करे, यह संसार-व्यापी युद्ध जर्मनी और तुर्की के लिए नये युग का सूर्योदय और स्वर्ग लावे।" भला कहाँ तो अन्य वर्णों के लोगों से वह घृणा और कहाँ उनके साथ मिलकर विजय प्राप्त करने और नवीन युग प्रस्तुत करने की यह कामना !

इसमें जरमनी का एक और उद्देश्य था। तुर्की को जरमनी ने जो सहायता दी थी, उसका एक और मतलब था। वह चाहता था कि एशिया में अंगरेजों और रूसियों की अधीनता में जो प्रदेश इस समय पिस रहे हैं, वे उत्तेजित हो कर उभड़ खड़े हों। वह चाहता था कि तुर्की, फारस, अफगानिस्तान और चीन सब हमारी ओर मिल जायें, और सारे एशिया में ऐसा उपद्रव खड़ा हो जाय जो हमारे शत्रुओं से शांत न हो सके। वह कुस्तुन्तुनिया से पेकिंग तक एक सीधी रेल बनाने का स्वप्न देख रहा था। वह यह प्रकट करना चाहता था कि हम एशिया को पूर्ण

स्वतंत्र बनाना चाहते हैं। एक जर्मन लेखक ने तो साफ कह दिया था कि जर्मनी का मुख्य उद्देश्य एशिया को फिर से नवीन जीवन प्रदान करना है। इसके उत्तर में मित्र राष्ट्र भी अपने अधीनस्थ देशों को भविष्य के लिए बहुत कुछ लालच देते थे और कहते थे कि यह सारा युद्ध बस तुम्हीं लोगों को स्वतंत्र और सुखी करने के लिए हो रहा है। मानों अन्य वर्णों के लोगों के कल्याण और मंगल के लिए ही यूरोप वाले कटे मरते थे! सच तो यह है कि समय पाकर उनके अभिमान का स्थान झूठ और पाखंड ने ले लिया था। सब को अपने प्राण बचाने और दूसरों के प्राण लेने की चिन्ता लगी हुई थी और वे अपना मतलब पूरा करने के लिए कोई बात उठा नहीं रखना चाहते थे। और नहीं तो युद्ध समाप्त हो जाने पर विजयी मित्र राष्ट्रों ने अपने अधीनस्थ देशों के साथ जैसा उपकार और सद्व्यवहार किया, वह तो सारा संसार देख ही रहा है; और भारत तो प्रत्यक्ष भोग ही रहा है !

जापान का ध्यान किसी और ही बात पर था। वह सोचता था कि जब तक ये गोरे आपस में लड़ रहे हैं, तब तक अपने हाथ रँग लेने चाहिए। इसीलिए उसने यूरोप के प्रत्यक्ष युद्ध में किसी पक्ष को कोई विशेष और उल्लेख योग्य सहायता नहीं दी थी। उसकी उस आंशिक उदासीनता से जर्मनी बहुत ही प्रसन्न और सन्तुष्ट था। पहले पहल जब जापान ने जर्मनी का अधिकृत क्याऊचाऊ ले लिया था, तब तो एक बार जर्मनी बहुत बिगड़ा था। पर पीछे से कुछ सोच समझ कर वह शांत हो गया और उसके अच्छे अच्छे लेखक आदि यह कहने लगे कि पूर्वी एशिया के स्वामी जापान के साथ हमें बिगाड़ नहीं करना चाहिए।

इधर बहुत दिनों से यूरोपवालों को पीत वर्ण वाली जातियों से बहुत अधिक भय लगने लगा था। उन्हें यह आशंका होने लगी थी कि कहीं आगे चल कर चीन और जापान आदि हमारे सब स्थान और अधिकार न छीन लें। इस भय और आशंका ने बहुत से गोरों को पीत वर्ण वालों का पूरा शत्रु बना दिया था। पर उस अवसर पर एक जर्मन अफसर ने, जो बहुत दिनों तक पूर्वी एशिया में रह चुका था, अपने देश-वासियों को यह समझा कर शांत करना चाहा था कि भले ही आगे चल कर हम लोगों को पीत वर्ण वालों से हानि पहुँचने की सम्भावना हो, पर कम से कम इस समय तो हमें उनसे डरने का कोई कारण नहीं है; क्योंकि पूर्वी एशिया में हमारे अधिकार में कोई प्रदेश नहीं है। यदि यूरोप की गोरी जातियों में पूरी पूरी एकता होती, तो अवश्य हमें पीत वर्ण वालों से डरना उचित था। पर इस समय गोरों में एकता तो है ही नहीं। स्वयं अपना ही रक्त और मांस गँवा कर हम अभी अभी यह कटु अनुभव प्राप्त करने लगे हैं। हमारे शत्रुओं ने सभी जातियों के लोगों को हमारे सामने ला खड़ा किया है उन लोगों ने जाति या वर्ण के हिताहित का विचार बिलकुल छोड़ दिया है। तब ऐसी अवस्था में, जब कि हमारे सामने जीवन और मरण का प्रश्न उपस्थित है, हम पीत वर्ण के लोगों से इन गोरों की रक्षा कहाँ तक कर सकेंगे? अब तो हम जर्मनों के सामने एक ही प्रश्न रह गया है। उस प्रश्न के आगे हमें और और सब प्रश्नों को छोड़ देना चाहिए। और वह प्रश्न है अपने जर्मनी देश की रक्षा और उन्नति करना। इसीलिए इस अफसर ने कहा था कि जर्मनी और जापान में राजनीतिक समझौता

हो जाना चाहिए। जापान से बिगाड़ कर आगे हम कुछ भी न कर सकेंगे; इसलिए हमें जापान से मिल जाना चाहिए। और हम लोग मिल भी सकते हैं। जर्मनी ही एक ऐसा देश है जो और सब देशों के मुकावले में पूर्वी एशिया के निवासियों के साथ मिल कर सब से अधिक लाभ उठा सकता है।

प्रायः इसीसे मिलते जुलते भाव और सब योद्धा राष्ट्रों के भी थे। सभी लड़ने वाले अपने सवर्ण शत्रुओं को दवाने के लिए, अन्य वर्णों के लोगों की सहायता लेते थे। उन्हें अनेक प्रकार से प्रसन्न करने और बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाकर अपनी ओर मिलाते थे और उनसे अपना काम निकालते थे। खैर।

मित्र राष्ट्रों ने अच्छी तरह समझ लिया था कि यह युद्ध जितने ही अधिक दिनों तक चलता रहेगा, वह उतना ही अधिक घातक और नाशक होगा। दोनों पक्षों ने यह भी समझ लिया था कि हम सहज में अपने विपक्षी पर विजय नहीं प्राप्त कर सकते हैं। इसी लिए दोनों पक्ष अमेरिका को अपनी ओर मिलाने के लिए सिर-तोड़ परिश्रम करने लगे। पर अन्त में मित्र राष्ट्रों की बन आई। उन्होंने जैसे तैसे अमेरिका को अपने पक्ष में मिलाने के लिए तैयार कर लिया। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति मि० विलसन मित्रों के चकमें में आ गये। वे एक प्रजातन्त्र राष्ट्र के राष्ट्रपति थे और स्वयं उनके विचार भी वहुत ऊँचे थे। उन्होंने युद्ध की समाप्ति के लिए कुछ शर्तें लगाई जो मित्र राष्ट्रों ने अपनी गरज के कारण ज्यों की त्यों मंजूर कर लीं। यहाँ इस बात का विवेचन करने का अवसर नहीं है कि उन शर्तों का कहाँ तक पालन हुआ। और फिर उनका जैसा पालन हुआ, वह किसी से

छिपा भी नहीं है। * यहाँ हम यही कह देना चाहते हैं कि मित्र राष्ट्रों ने उस समय अमेरिका को अपने पक्ष में मिलाने के लिए ही मि० विलसन की सारी शर्तें चुप-चाप मान लीं। क्योंकि वे यह बात अच्छी तरह जानते थे कि आगे चलकर जब हमारी विजय हो जायगी और इन शर्तों के पालन का अवसर आवेगा, उस समय हम अमेरिका से भी समझ लेंगे। उन शर्तों का पालन करना या न करना तो हमारे ही हाथ में रहेगा। अमेरिका हमसे जबरदस्ती तो शर्तों का पालन करा ही न लेगा। इसलिए वे अमेरिका को हर तरह से राजी करके यूरोप के युद्ध-क्षेत्र में ले आये। यूरोप वाले बरसों से लड़ते लड़ते बे-दम हो रहे थे। अमेरिकन सेनाओं ने यूरोप पहुँचते ही युद्ध का रुख बदल दिया। जरमनी ने भी देखा कि इस समय बात अपने बस की नहीं है। इसलिए वह भी युद्ध स्थगित करने के लिए राजी हो गया। वह भी समझता था कि हमारे हाथ पैर सदा के लिए तो बँध जायँगे ही नहीं। फिर किसी अवसर पर देखा जायगा। इस प्रकार युद्ध रुका। इसके उपरान्त सारे संसार की दृष्टि शान्ति महासभा की ओर जा लगी। योद्धा राष्ट्र तो पहले से ही अच्छी तरह जानते थे कि इस शान्ति महासभा में अधिक से अधिक क्या हो सकता है। इसलिए उनको अपनी तो कोई विशेष चिन्ता या परवा नहीं थी। हाँ, अन्यान्य वर्णों तथा देशों के लोगों को बड़ी-बड़ी आशाएँ होने लगी थीं। पर शान्ति-महासभा के उपरान्त भी न तो लोगों की कोई आशा ही पूरी हुई, और न यूरोप में ही किसी प्रकार की

* इस सम्बन्ध की अधिक बातें जानने के लिए मेरी लिखी "वर्त्तमान एशिया" नामक पुस्तक देखिए।

शान्ति स्थापित हुई। उलटे संसार के एक सिरे से दूसरे सिरे तक घोर असन्तोष फैल गया। राजनीतिक समस्याएँ पहले से कहीं अधिक जटिल हो गईं और आर्थिक संकट पहले से कहीं अधिक विकट हो गए।

यूरोप में कुछ थोड़े से समझदार ऐसे भी थे जो पहले से ही यह बात जानते थे कि युद्ध की समाप्ति पर जब बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ आपस में समझौता करने बैठेंगे, तब यूरोप को फिर से संघटित करने की समस्या ऐसी जटिल हो जायगी कि उनकी कोई मीमांसा ही न हो सकेगी। पर अधिक संख्या ऐसे ही लोगों की थी जो शान्ति महासभा से बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ रखते थे। इसी लिए अन्त में प्रायः सभी लोगों को निराश होना पड़ा और सभी लोगों को यह जान पड़ने लगा कि हम लोग धोखे में थे। वार्सेल्स में जो कुछ निश्चय हुआ था, वह सिर से पैर तक अनेक प्रकार की त्रुटियों से पूर्ण था। इसी लिए प्रायः सभी ओर से उसकी बहुत अधिक निन्दा भी हुई थी। पर कुछ लोग तो ऐसे थे जो यह समझते थे कि इतनी अधिक दुरवस्था उत्पन्न हो चुकने के उपरान्त जो कुछ निश्चय हो गया, वही गनीमत है। और कुछ लोग ऐसे थे जो यह समझते थे कि यह निर्णय कोई निर्णय ही नहीं है और इससे अनेक बड़े-बड़े अनर्थों का बीजारोपण हुआ है। और वास्तव में यही बात बहुत से अंशों में ठीक भी है।

सुप्रसिद्ध जनरल स्मट्स दक्षिण आफ्रिका के प्रतिनिधि बनकर शान्ति महासभा में आए थे। वे उस दल में के हैं, जो शान्ति महासभा के निर्णय से असन्तुष्ट होने पर भी उसे गनीमत समझता है। वार्सेल्स के निर्णय का विरोध करते हुए उन्होंने कहा

था—"मैंने सन्धि पर इसलिए हस्ताक्षर नहीं किए हैं कि मैं उस सन्धिपत्र को सन्तोष-जनक समझता हूँ। मेरे हस्ताक्षर करने का कारण यह है कि युद्ध का समाप्त होना नितान्त आवश्यक है। इस समय संसार को सबसे अधिक आवश्यकता शान्ति की ही है। और युद्ध तथा शान्ति के मध्य की अवस्था में पड़े रहना सब से अधिक घातक है। युद्ध स्थागित होने के उपरान्त के छः महीने भी यूरोप के लिए वैसे ही नाशक रहे हैं, जैसे युद्ध-काल के चार वर्ष थे। इस समय जो सन्धि हुई है, उसे मैं उन द अध्यायों का अन्त समझता हूँ जिनमें से एक अध्याय युद्ध और दूसरा युद्ध का स्थगित होना है। और केवल इसी कारण मैं इस सन्धि से सहमत हुआ हूँ। मैं केवल टीका-टिप्पणी करने के लिए यह बात नहीं कहता, बल्कि सच्चे हृदय से कहता हूँ। जो काम हुआ है, उस में मैं कोई दोष नहीं निकालना चाहता। पर फिर भी मैं समझता हूँ कि हम लोगों ने अभी तक वह सच्ची शान्ति नहीं प्राप्त की है जिसकी सब लोग आशा लगाए बैठे थे। मैं यह भी समझता हूँ कि सच्ची शान्ति का कार्य सन्धि पर हस्ताक्षर हो चुकने के उपरान्त आरम्भ होगा। यह सच्ची शान्ति तभी होगी, जब उन नाशक वृत्तियों का दमन होगा जो प्रायः पाँच वर्ष से यूरोप का नाश कर रही हैं।"

पर यदि सच पूछिए तो सन्धि पर हस्ताक्षर हो चुकने के इतने दिनों बाद तक भी कहीं सच्ची शान्ति के दर्शन नहीं हो रहे हैं; और न कहीं उन नाशक वृत्तियों का अन्त ही दिखलाई देता है। उलटे वे वृत्तियाँ फिर धीरे-धीरे अपना भीषण रूप धारण करती हुई दिखाई दे रही हैं। भला जिस निर्णय से दोनों में से एक भी

पक्ष सन्तुष्ट नहीं, उस निर्णय से कहाँ तक शान्ति स्थापित हो सकती है ! ऐसी सन्धि का अनिवार्य परिणाम भीषणतर युद्ध ही है। जब तक लोगों का हृदय स्वच्छ नहीं होगा और जब तक साम्राज्यवाद का भूत यूरोप के सिर से नहीं उतरेगा, तब तक सच्ची शान्ति की आशा दुराशा मात्र है। अभी तो शान्ति संसार से बहुत दूर है।

मि० जे० एल० गार्विन नामक एक अंग्रेज़ अर्थ-शास्त्रज्ञ ने भी इस सन्धि की अच्छी आलोचना की थी। उसने कहा था—"सन्धिपत्र पर चाहे हस्ताक्षर भी क्यों न हो जायँ, पर फिर भी वह आखिर एक कागज़ ही है। वह कागज स्वयं तो कुछ कर ही नहीं सकता। उसका उपयोग तभी हो सकता है जब उसमें लिखी हुई बातों का पालन आदि करने के लिए उसके साथ कुछ जीवित शक्तियाँ भी लगी हों। जिन सन्धियों में निश्चित और ठीक बातें नहीं होतीं, अन्त में उन सन्धियों का ठीक उसी प्रकार निरादर या अपमान होता है जिस प्रकार झूठी हुंडियों आदि का होता है। आप केवल कागज पर लिखने से ही शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते। और फिर सब से बड़ी बात यह है कि जिस प्रकार चमकने वाली सभी चीजें सोना नहीं होतीं, उसी प्रकार जिसे लोग "शान्ति" कहा करते हैं, वह सदा आवश्यक रूप से कल्याणकारक और समृद्धिवर्धक नहीं होती। आप चारों ओर एकान्त या निर्जनता उत्पन्न करके उसीको शान्ति कह सकते हैं। चेतनता का अभाव अथवा मृत्यु भी तो एक प्रकार की शान्ति ही है। आप बिलकुल गति-हीन हो सकते हैं और फिर भी उसे शान्ति कह सकते हैं। पर वह शान्ति न तो स्थायी होगी और न उससे किसी प्रकार का

विधायक कार्य ही होगा। साथ ही वह शान्ति वैसी नहीं होगी जिसकी कल्पना लोग युद्ध-काल में किया करते थे। और उसी उच्च तथा बुद्धिमता पूर्ण शान्ति के लिए हमने सैंकड़ों वर्षों से इकठ्ठी की हुई अपनी शक्तियाँ और खजाने नष्ट किये थे और इतने अधिक अच्छे से अच्छे आदमियों को युद्ध-क्षेत्र में मरने के लिए भेजा था।"

डा० ई० जे० डिलन सार्वराष्ट्रीय राजनीति के बहुत बड़े ज्ञाता हैं। उन्होंने सन्धि के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था वह इस प्रकार है—"पहले तो यह सोचा गया था कि सन्धि (अमेरिका की) चौदह शर्तों के अनुसार होगी अथवा सीमा सम्बन्धी सिद्धांतों पर होगी। पर इन दोनों में से एक बात के आधार पर भी सन्धि नहीं हुई। हाँ, वह एक ऐसे समझौते के आधार पर हुई है, जिस में गुण या लाभ तं दोनों में से एक के भी नहीं हैं पर दोनों की कुछ कुछ हानियाँ या दोष अवश्य हैं। यह सन्धि युद्ध के मूल पर आघात करने में असमर्थ हुई है। बल्कि हम कह सकते हैं कि युद्ध के जिन कारणों का नाश करना इसका उद्देश्य था, उन कारणों की संख्या इसने और भी बढ़ा दी है। इस सन्धि में बहुत सी ऐसी बातें आ गई हैं, जिनसे केवल गत महायुद्ध में लड़ने वाले राष्ट्रों में ही नहीं बल्कि अन्यान्य राष्ट्रों में भी आगे चलकर बहुत से झगड़े और युद्ध होंगे। और इस समय जो लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं, यदि उन पर विश्वास किया जाय तो कहा जा सकता है कि समय पाकर युद्ध के अंकुर खूब फूलें फलेंगे।"

वार्सेल्स की सन्धि के दूषित और त्रुटिपूर्ण होने का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि उसने जो सार्वराष्ट्रीय लीग या महासभा

स्थापित की है, उसके प्रति लोगों की सहानुभूति और उत्साह का बिलकुल नाश हो गया है। बहुत से लोग ऐसे हैं जिनके मन में पहले लीग के प्रति बहुत अधिक उत्साह था; जो लीग के बहुत बड़े समर्थक थे, और जिन्हें लीग से बहुत कुछ आशा थी। पर अब वही लोग यह कहने लग गये हैं कि लीग का कोई नैतिक आधार ही नहीं रहा गया। ऐसे लोगों का यह भी मत है कि यदि लीग की कार्य-प्रणाली सिद्धान्ततः ठीक भी होती, तो भी जिस आधार पर वर्तमान सन्धि की गई है, उस आधार को देखते हुए कहा जा सकता है कि लीग केवल बालू पर बना हुआ महल है। जिस लीग की स्थापना कुछ प्रबल राष्ट्रों ने लोगों को केवल धोखा देने और अपना स्वार्थ सिद्ध करने के ही उद्देश्य से की हो, भला उसका नैतिक आधार ही क्या हो सकता है! जिस लीग को लोग टट्टी बना कर उसकी आड़ में शिकार खेलते हों, उस पर लोगों का कहाँ तक विश्वास रह सकता है! और जिस संस्था पर किसी का विश्वास ही न हो, वह कहाँ तक स्थायी हो सकती है! हमारी इन सब बातों का प्रमाण यदि पाठक एक ही स्थान पर प्राप्त करना चाहें, तो उन्हें लीग द्वारा प्रस्तावित और जेनेवा में होने वाली अफीम सम्बन्धी दूसरी सार्वराष्ट्रीय महासभा के उस अधिवेशन की ओर ध्यान देना चाहिए जो अभी हाल में सन् १९२५ के आरंभ में हुआ था। क्या उसकी कार्रवाई देख कर कोई समझदार आदमी कह सकता है कि इंग्लैण्ड ने जिस समय संसार में अफीम की उपज कम करने का सिद्धांत स्वीकृत किया था और जिस समय वह इसके लिए कानफ्रेन्स करने के लिए तैयार हुआ था, उस समय उसका दिल बिल्कुल साफ था और वह अपना कोई स्वार्थ नहीं

सिद्ध करना चाहता था ? क्या उसने ये सब बातें लोगों को केवल धोखा देने के लिए नहीं की थीं ? यदि ऐसा न होता तो उस कानफ्रेन्स में से पहले अमेरिका के प्रतिनिधियों को और फिर चीन के प्रतिनिधियों को उठ कर चले जाने की क्या आवश्यकता थी ? यदि कोई कहना चाहे तो वह यहाँ तक कह सकता है कि कुछ स्वार्थी राष्ट्रों ने पहले से ही कुछ ऐसा रूपक साधना आरम्भ कर दिया था कि जिसमें हमारे विरोधी प्रतिनिधि महासभा में से उठ कर चले जायँ और फिर हमें मनमानी कार्यवाही करने को अवसर मिल जाय। ख़ैर।

हमारे कहने का मुख्य तात्पर्य यह है कि यूरोप इस समय बहुत ही बुरी दशा में है और उसकी दुरवस्था दिन पर दिन बढ़ती जाती है। ऊपर हमने सन्धि के सम्बन्ध में जो मत दिये हैं, वे बहुधा मित्र राष्ट्रों के पक्षपातियों के ही हैं। यदि सन्धि के सम्बन्ध में जर्मनी, आस्ट्रिया या तुर्की आदि के पक्षपातियों की सम्मतियों पर ध्यान दिया जाय, तो परिस्थिति की भयंकरता और भी बढ़ी हुई जान पड़ती है। युद्ध में जो पक्ष विजयी हुआ है, जिसने बहुत से नये प्रदेश पाये हैं, और जो बहुत सा हरजाना वसूल कर रहा है, जब वही पक्ष सन्धि से सन्तुष्ट नहीं है, तो फिर जो पक्ष पराजित हुआ है, जिसके हाथ से अनेक प्रदेश निकल गये हैं और जिसे हरजाने की बड़ी बड़ी रकमें देनी पड़ रही हैं, वह इस सन्धि से चाहे जितना असन्तुष्ट हो, थोड़ा है। ऐसी अवस्था में यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि यूरोप के राजनीतिज्ञ ऐसा निर्णय करने में नितांत असमर्थ सिद्ध हुये हैं, जो सब लोगों के लिए सन्तोषजनक हो और जिसका परिणाम शुभ तथा

कल्याणकारी हो। पुरानी जटिल समस्याएँ तो ज्यों की त्यों बनी रह गईं और ऊपर से अनेक नई नई विकट समस्याएँ भी खड़ी हो गईं। यदि कोई पूछे कि इसका कारण क्या है, तो उसका यही उत्तर है कि जो पक्ष विजयी और बलवान् था, उसने केवल अपने हित को छोड़ कर और किसी बात पर ध्यान नहीं दिया और जहाँ तक हो सका, अपने विपक्षी को दबाने की ही नहीं, बल्कि पीस डालने की भी पूरी पूरी कोशिश की।

एक ओर तो महायुद्ध में पराजित पक्ष असन्तुष्ट है, और दूसरी ओर उन अधीनस्थ देशों के निवासियों का बहुत बड़ा समूह असन्तुष्ट है, जिन्हें जेता राष्ट्रों ने युद्ध-काल में बहुत बड़ी बड़ी आशाएँ दिलाई थीं और युद्ध से छुट्टी पाने पर वे जिन्हें पहले की अपेक्षा और भी अधिक निराश तथा दुःखी कर रहे हैं। विशेषतः एशिया और आफ्रिका के अधिकांश अधीनस्थ देश बहुत ही अधिक असन्तुष्ट हैं। उनके लिए अब गोरों के प्रभुत्व और भार का सहना दिन पर दिन असम्भव होता जाता है। महायुद्ध ने उन की आँखें और भी खोल दी हैं। वे यूरोप वालों की चालबाजियों से भी परिचित हो गये हैं और पराधीनता के कष्ट झेलते झेलते तंग भी आ गये हैं। वे अब स्वाधीन होने के लिए पूरा पूरा प्रयत्न करने लग गये हैं। अब गोरों के प्रति उनका वह पहले वाला भाव नहीं रह गया है। इसलिए यदि आगे चल कर फिर कभी यूरोप में कोई गृहयुद्ध छिड़ा तो कदाचित् अन्य वर्णों के लोगों से उन्हें कोई सहायता भी न मिलेगी। अब सब लोग अपना अपना घर सँभालेंगे और निरर्थक स्वामिभक्ति के लिए प्राण नहीं देने जायँगे। परन्तु फिर भी यह गोरे लड़ने से मानेंगे नहीं। और भावी युद्धों

की आशंका से ही वे अपने अधीनस्थ देशों को और भी दृढ़ता पूर्वक जकड़ने का उद्योग करेंगे। चाहे आज या पचास वर्षों के बाद परिणाम यही होगा कि अन्य वर्णों वाले तो स्वाधीन हो जायँगे और गोरों के प्रभुत्व का अन्त हो जायगा। और जब गोरों के प्रभुत्व का अन्त हो जायगा तब मानों उनकी सभ्यता का भी अन्त हो जायगा और उसके स्थान पर किसी और नई सभ्यता का आविर्भाव होगा। यही सृष्टि का क्रम है और इसी की पूर्ति में सब लोगों को सहायक होना चाहिए।

उपसंहार

(१०)

हम आरम्भ में ही यह बात कह चुके हैं कि संसार में गोरों का प्रसार दो प्रकार का है। कुछ स्थानों में तो वे जाकर बस गये हैं और कुछ स्थानों पर उन्होंने अपना शासन जमा रक्खा है। उत्तरी अमेरिका आदि जिन स्थानों में गोरे लोग जा कर बस गये हैं, उन स्थानों को उन्होंने मानों बिलकुल अपना देश ही बना लिया है। और भारत सरीखे देश उनके अधिकृत और अधीनस्थ हैं। पर एक कोटि इन दोनों के बीच की है। इस कोटि में दक्षिण आफ्रिका जैसे कुछ ऐसे देश हैं जिनमें जाकर गोरे बस तो बहुत बड़ी संख्या में गये हैं, पर जहाँ के मूल निवासियों का उन्होंने अमेरिका के रक्त वर्ण वाले मूल निवासियों की भांति शिकार करके अथवा और किसी उपाय से समूल नाश नहीं कर दिया है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रदेश भी हैं, जिन पर गोरों ने अपना पूरा पूरा अधिकार कर लिया है, पर जहाँ उन प्रदेशों के मूल-निवासी भी बसते हैं। ऐसे प्रदेश गोरी जातियों के संसार से इतनी दूरी पर हैं कि गोरों को अभी तक विश्वास ही नहीं है कि हमारा अधिकार इन प्रदेशों पर स्थायी रूप से बना रह सकेगा। आस्ट्रेलिया ऐसे ही प्रदेशों में से है।

जिन देशों के मूल निवासियों का इन गोरों ने शिकार करके अथवा और किसी प्रकार से बिलकुल नाश ही कर दिया है, उन प्रदेशों की बात बिलकुल जाने ही दीजिए; क्योंकि वहाँ अब इनका विरोध करने वाले प्रायः नहीं के समान हैं। वे अब संसार में रह ही नहीं गये। अब उनके अधिकारों के लिए कौन लड़ सकता है! अमेरिका के रक्त वर्ण वालों का इन गोरों ने प्रायः इसी प्रकार नाश किया है। वहाँ जो थोड़े बहुत मूल-निवासी बच भी गये हैं, वे प्रायः नगण्य हैं। गोरों की संख्या वहाँ बहुत बढ़ गई है और अब वहाँ से गोरों का निकलना प्रायः असम्भव ही है। इसलिए अब हमें पहले उन प्रदेशों पर विचार करना चाहिए जिन पर इन गोरों का केवल राजनीतिक अधिकार या शासन है।

गोरों में एक दल ऐसा है जो उदार कहलाता है और जिसका यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक देश के निवासियों को स्वतंत्र होने का पूरा पूरा अधिकार है। और यह सिद्धान्त सभी दृष्टियों से ठीक भी है। इसके विपरीत एक दूसरा दल है, जो अनुदार या साम्राज्यवादी कहलाता है और जिसका यह सिद्धान्त है कि गोरों के प्रसार के लिए यथेष्ट स्थान मिलना चाहिए—संसार की अन्य जातियों या वर्णों के लोग चाहे मरें और चाहे जीयें। इनमें से पहला सिद्धान्त तो न्याय के आधार पर है और दूसरे का आधार नितान्त अन्यायपूर्ण और "जिसकी लाठी उसकी भैंस" का सा है। यह स्वतः सिद्ध है कि न तो कोई प्रदेश सदा से अब तक पराधीन ही रहा और न कोई देश आगे सदा पराधीन रह सकता है। यदि न्याय्यतः देखा जाय, तो किसी मनुष्य अथवा जाति को किसी दूसरे मनुष्य अथवा जाति पर शासन करने का कोई अधिकार नहीं है।

हाँ, जबरदस्ती की बात दूसरी है। इसलिए अब कुछ साम्राज्यवादी ऐसे भी उत्पन्न हो गये हैं जो मन ही मन यह समझने लग गए हैं कि दूसरे देशों और जातियों पर हमारा यह अधिकार सदा नहीं बना रह सकता। यदि हम अपने इस अधिकार को स्थायी रूप देना चाहेंगे तो हमें संसार की सभी जातियों का नाश करना पड़ेगा; क्योंकि मनुष्य जब तक जीवित रहेंगे, तब तक वे स्वतन्त्र होने का प्रयत्न अवश्य करेंगे। पर संसार की अन्य सब जातियों का नाश करना भी सम्भव नहीं है। इसलिए वे बहुत असमंजस में पड़ गये हैं और यह सोच रहे हैं कि आगे चल कर हमें किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

यदि जर्मनी को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह बेल्जियम को निगल जाय, अथवा आस्ट्रिया को इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि वह इंग्लैड पर अपना प्रभुत्व जमावे, तो फिर इंग्लैण्ड को इस बात का क्या अधिकार है कि वह भारत या मिस्र को अपनी अधीनता में रख सके? अथवा फ्रान्स को इस बात का क्या अधिकार है कि वह एल्जीरिया या कम्बोडिया को अपने शासन में रख सके? जब साम्राज्यवादी इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं दे सके, तब उनकी सहायता के लिए कुछ वैज्ञानिक साम्राज्यवादी उत्पन्न हो गए। वे इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने लगे कि संसार में केवल बलवान् ही रहते हैं और निर्बल या अशक्त नष्ट हो जाते हैं। यदि हम भी निर्बलों और अशक्तों का नाश कर दें तो मानों एक प्रकार से प्रकृति के काम में सहायक होंगे। यह "जिसकी लाठी उसकी भैंस" वाले सिद्धान्त का वैज्ञानिक रूप है, और केवल वैज्ञानिक होने के ही कारण उस

से कहीं अधिक भीषण तथा नाशक भी है। साम्राज्यवादियों में जो यह नया वैज्ञानिक सम्प्रदाय खड़ा हुआ है, वह कहता है कि हम अपने जिन शत्रुओं का नाश कर सकते हों, उन शत्रुओं का हमें तुरन्त नाश कर डालना चाहिए; और जिन्हें हम नष्ट न कर सकते हों, उन्हें सदा अपनी अधीनता में रखने का अभी से पूरा पूरा उद्योग करना चाहिए। अब ऐसी परिस्थिति में अशक्तों और पराधीनों को क्या करना चाहिए, इसका निर्णय वे स्वयं अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार कर लें।

यों तो प्रायः सारा संसार ही इस समय गोरों से त्रस्त हो रहा है और उनके अधिकार से निकलकर स्वतंत्र होना चाहता है, पर एशिया के धूसर और पीत वर्ण के लोग इस विषय में उन सब से आगे बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। इन दोनों वर्णों के लोग दिन पर दिन गोरों के घोर विरोधी होते जा रहे हैं। वे गोरों पर यह बात प्रमाणित कर देना चाहते हैं कि हम तुम से किसी बात में दबने या पीछे रहने के लिए तैयार नहीं हैं और न अब हम अधिक समय तक तुम्हारा प्रभुत्व ही मान सकते हैं। आजकल चाहे इन दोनों वर्णों के लोग कुछ दब गये हों, पर किसी समय यही दोनों वर्ण संसार में सर्व-श्रेष्ठ समझे जाते थे, और अनेक बातों में सारे संसार के गुरु थे। एशिया के इन निवासियों को चाहिए कि अपनी पुरानी संस्कृति फिर से जागृत करें, अपने पैरों पर आप खड़े हों और अपना अपना घर सँभालें। यदि ये लोग अलग अलग और मिलकर स्वतंत्र और उन्नत होने का पूरा-पूरा उद्योग करेंगे, तो यह बात निश्चित है कि कम से कम एशिया से गोरों के पैर उखड़ जायँगे। गोरी जातियों को भी और किसी

विचार से न सही तो अपने कल्याण के विचार से ही सही, इन लोगों के अधिकारों का पूरा-पूरा आदर करना चाहिए और अपने मस्तिष्क में से यह भ्रम-पूर्ण विचार निकाल देना चाहिए कि ईश्वर ने सारे संसार पर शासन करने के लिए केवल हमारी ही सृष्टि की है—अन्य सब जातियाँ हमारी दासता के लिए उत्पन्न की गई हैं। यदि वे इस सत्य सिद्धान्त को समझने में किसी प्रकार की आनाकानी करेंगे, तो अन्त में स्वयं प्रकृति ही उनका दिमाग ठिकाने ले आवेगी। क्योंकि वे इस समय जो अपराध कर रहे हैं, वह प्रकृति और ईश्वर की दृष्टि में कभी क्षम्य नहीं हो सकता। पर एक बात और है। गोरों का तो इस अपराध से बचना कर्तव्य है ही। साथ ही अन्य वर्णवालों का भी यह कर्तव्य है कि वे स्वयं बलवान् बनकर अपने घर का आप ही प्रबन्ध करके गोरों को इस अपराध से बचने में सहायता दें। लोग कहते हैं कि दुर्बल होना भी एक अपराध है और भारी अपराध है। यह कथन चाहे और किसी दृष्टि से ठीक हो और चाहे न हो, पर इस दृष्टि से अवश्य ठीक है कि एक पक्ष की दुर्बलता ही दूसरे पक्ष को उसपर अन्याय और अत्याचार करने के लिए उत्तेजित करती है। यदि एक ओर अत्याचार करने के लिए गोरे अपराधी हैं, तो दूसरी ओर अत्याचार सहने के कारण अन्य वर्णों के लोग भी अपराधी हैं। और फलतः दोनों ही दंड के भागी भी हैं।

यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि प्रत्येक मनुष्य की स्थिति उसकी योग्यता और सामर्थ्य के अनुरूप ही हुआ करती है। जो जाति स्वतंत्र होने के योग्य बन जाती है, वह फिर कभी किसी प्रकार परतंत्र रह ही नहीं सकती। गोरों ने अपने आपको शासक

होने के योग्य बनाया था, इसलिए वे शासक बन गए; और अन्य वर्णों के लोग दास बनने के योग्य हो गये थे, इसलिए वे उनके दास बन गये। पर काल-चक्र सदा घूमा करता है; इसलिए अब गोरों के गुणों का ह्रास होने लगा है, और अन्य वर्णों के लोगों में जागृति उत्पन्न होने लगी है। इस समय प्रत्येक परतंत्र जाति को अपनी स्थिति उस सीमा तक सुधार लेनी चाहिए, जिसके उपरान्त फिर उसे कभी कोई पराधीन कर ही न सके। और अपनी वह स्थिति बराबर बनाए रखनी चाहिए। पराधीनता वह दंड है जो प्रकृति उन दुर्बल जातिओं को दुर्बलता के अपराध में देती है। जिस समय संसार की सभी जातियाँ यथेष्ट बलवती हो जायँगी और अपने अधिकारों की रक्षा तथा दूसरों के अधिकरों का आदर करना सीख जायँगी, उस समय स्वामित्व और दासत्व, शासक और शासित, परतंत्र और स्वतंत्र का कोई झगड़ा ही न रह जायगा सब लोग स्वतंत्र और सब लोग समान होंगे। उसी समय संसार में वास्तविक और स्थायी शान्ति के दर्शन हो सकेंगे। यदि गोरी जातियाँ अन्य जातियों को अपनी अधीनता में रखकर सुखी और शान्त होने की आशा रखती हों, तो यह उनकी बड़ी भारी भूल है; और इस भूल का सुधार उन्हें स्वयं अपनी तथा शेष संसार की भारी हानि करके करना पड़ेगा।

यदि एशिया स्वतंत्र होने के योग्य है, तो वह अवश्य स्वतंत्र हो कर रहेगा। पर उसे स्वतंत्र होने से पहले स्वतंत्र होने के योग्य बनना पड़ेगा। लोग इस योग्यता के अनेक स्वरूप बतलाते हैं। कोई कहता है शिक्षा प्राप्त करो; कोई कहता है—सम्पन्न बनो। कोई कहता है—बलवान् हो; और कोई कहता है समाज सुधार

करें। पर हमारी समझ में ये सभी बातें आवश्यक होने पर भी गौण ही हैं। स्वतंत्र होने के लिए सब से पहले इस बात की आवश्यकता है कि सब लोगों में स्वतंत्र होने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हो। जब किसी जाति के प्रत्येक मनुष्य में स्वतंत्र होने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जायगी, तब फिर कभी कोई शक्ति उसे परतंत्र न रख सकेगी। और फिर जब वह जाति स्वतंत्र हो जायगी, तब अन्यान्य ऊपरी और आवश्यक बातें धीरे धीरे उसमें आप ही आ जायँगी।

एशिया में मुख्यतः धूसर और पीत इन्हीं दो वर्णों के लोग बसते हैं और गोरों को सब से अधिक इन्हीं दोनों वर्णों के लोगों से खटका है। इन दोनों वर्णों की जन-संख्या भी बहुत अधिक है। वे समझते हैं कि कहीं ऐसा न हो कि ये दोनों वर्णों के लोग मिलकर एशिया में हमारे प्रभुत्व के विरुद्ध शस्त्र उठावें। पर उन्हें इस बात की आशंका नहीं होनी चाहिए; क्योंकि अभी इन लोगों में वह शक्ति आने में बहुत विलम्ब है जिससे वे रण-क्षेत्र में जम कर कुछ दिनों तक लड़ सकें। हमारा विश्वास है कि वह समय आने से बहुत पहले ही संसार का रंग बिलकुल बदल जायगा और एशिया वालों को गोरों के विरुद्ध कम से कम शस्त्र उठाने की आवश्यकता ही न पड़ेगी। हाँ यह अवश्य हो सकता है कि ये लोग मिलकर इतना प्रबल आन्दोलन करें कि गोरों को विवश हो कर एशिया पर से अपना शासन उठा लेना पड़े। और कदाचित् यही बात होगी भी। गोरी जातियाँ प्रायः यह कहा करती हैं कि हम तो अपनी शासित जातियों के संरक्षक मात्र हैं। ज्यों ही ये जातियाँ अपने पैरों आप खड़ी होने के योग्य हो जायँगी, त्यों

ही हम उन पर से अपना शासन उठा लेंगे। पर यदि वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो गोरों के इस प्रकार के कथनों का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। गोरों ने प्रायः आर्थिक दृष्टि से लाभदायक समझ कर ही संसार के अन्यान्य देशों पर अधिकार जमा रखा है। और वे यह लाभ यथा साध्य चरम सीमा तक उठा कर ही दम लेंगे। किसी अधीनस्थ देश के निवासी को कभी यह आशा नहीं करनी चाहिए कि हमारे गोरे शासक किसी न किसी समय शासन की वागडोर आप ही हमारे हाथ में सौंप कर अपने घर चले जायँगे। गोरों के हाथ से अपना अधिकार छीनने के लिए पराधीन जातियों को अनेक प्रकार के प्रबल उद्योग करने पड़ेंगे और साथ ही अनेक प्रकार के कष्ट भी सहने पड़ेंगे। पराधीनों को यह उद्योग करने और कष्ट सहने के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

गोरों को अन्य वर्णों के लोगों से दूसरा खटका यह है कि वे शीघ्र ही शिल्प तथा कला आदि के क्षेत्र से हमें वाहर निकाल देंगे। अर्थात् वे भी अपने ही देश में अपनी आवश्यकता की सभी चीजें तैयार करने लग जायँगे और उस दशा में हमारा रोजगार मारा जायगा। उनका यह भय वहुत कुछ ठीक है। पर हम तो यह कहेंगे कि संसार की सभी जातियों के कल्याण की दृष्टि से इससे वढ़कर और कोई वात ही नहीं हो सकती कि सव देशों के लोग अपनी अपनी आवश्यकता की सव चीजें आप ही तैयार करने लग जायँ। यदि यह वात हो जाय तो उन थोड़े से वड़े वड़े प्रलोभनों में से एक प्रलोभन तो अवश्य नष्ट हो जाय जिसके कारण गोरे लोग प्रायः सारे संसार पर अपना अधिकार

जमा कर बैठे हुए हैं और जिसके परिणाम-स्वरूप वे अन्य वर्णों के लोगों को बिलकुल दरिद्र बना कर आप परम सम्पन्न बन बैठे हैं। एक गोरों को छोड़ कर अन्यान्य सभी वर्णों के लोग दिन पर दिन बराबर दरिद्र होते जा रहे हैं। सब स्थानों का धन खिंच खिंच कर एक ही स्थान पर चला जा रहा है। ऐसी परिस्थिति न तो कभी वांछनीय हो सकती है और न स्थायी। यदि हम अपने महल्ले या गांव के सब लोगों का धन छीनकर उन्हें दरिद्र बना दें और उनके धन से आप धनवान् बनकर उन्हीं के बीच में भारी महल बना कर ठाठ बाठ से रहने लगे, तो मानों हम प्रकारान्तर से उन लोगों को इस बात के लिए विवश और उत्तजित करते हैं कि वे आकर हमारा घर लूट लें। गोरों से तो सहसा यह आशा की ही नहीं जा सकती कि वे इन इन बातों को समझकर दूसरों का धन हरण करनेवाली नीति बदल देंगे। इसलिए हमें स्वयं ही अपना घर सँभालने की चेष्टा में लग जाना चाहिए। गोरों के प्रभुत्व और शासन का मूल उनका व्यापार और वाणिज्य है। यदि हम व्यापार और वाणिज्य के क्षेत्र में उनके मुकाबले में खड़े होने लग जायँगे, तो मानों उनकी एक प्रबल शक्ति का अस्त कर देंगे। जापान ने यह कार्य करना आरम्भ कर दिया है। पर चीन, भारत और फारस आदि अभी इन बातों में बहुत पीछे हैं। यह क्षेत्र ऐसा है जिसमें हमें राजनीतिक क्षेत्र के समान ही तत्परता और दृढ़ता पूर्वक कार्य करना चाहिए।

एशिया की दरिद्रता और पराधीनता दोनों का कारण यही है कि गोरों ने एशियावालों के वाणिज्य-व्यापार का बिलकुल नाश

कर दिया है। यदि एशियावाले फिर से किसी प्रकार अपना वाणिज्य व्यापार खड़ा कर सकें, तो वे दरिद्रता और पराधीनता दोनों के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं। हर्ष का विषय है कि इधर कुछ दिनों से एशियावाले यह बात समझने लग गए हैं। उनके पास वाणिज्य व्यापार की वृद्धि के साधनों की कमी नहीं है। यदि सच पूछिए तो गोरी जातियाँ उन्हींके साधनों से ही अपना सारा काम चलाती हैं। बहुत सा कच्चा माल एशिया में ही पैदा होता है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम उसका ठीक-ठीक उपयोग करने लग जायँ। हम कह सकते हैं कि केवल भारत और चीन यही दो देश ऐसे हैं कि यदि ठीक तरह से ये व्यापार वाणिज्य करने लग जायँ, तो समस्त एशिया की आवश्यकताएँ पूरी कर सकते हैं। और उस दशा में गोरों के व्यापार-वाणिज्य के लिए कोई स्थान ही नहीं रह सकता। इन देशों के कारीगर और मजदूर बहुत अधिक परिश्रमी, कष्ट-सहिष्णु और निपुण होते हैं और साथ ही कम मजदूरी में अधिक समय तक काम कर सकते हैं। यदि एशियावालों को व्यापार-वाणिज्य में गोरों के साथ स्वतंत्रता पूर्वक प्रतियोगिता करने का अवसर मिले, तो वे बहुत अच्छी तरह उनसे बाजी जीत सकते हैं। पर हाँ, पहले वह अवसर उत्पन्न करना पड़ेगा जिसमें हम उनके साथ स्वतंत्रता पूर्वक प्रतियोगिता कर सकें। और इस बात का राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है।

गोरी जातियों को अन्यान्य वर्ण के लोगों से तीसरा खटका यह है कि वे अपने अपने देश से निकल कर उन देशों में जा बसने लगेंगे जो इस समय गोरों के अधिकार में हैं और जिनमें बसने वाले

गोरों की संख्या तो बहुत कम और बसने योग्य जमीन बहुत अधिक है। गोरे यह चाहते हैं कि इस प्रकार के देश सदा हमारे हाथ में ही बने रहें। यदि हम इस समय उन्हें पूरी तरह बसा नहीं सकते हैं, तो न सही आगे चलकर वह खाली जमीन हमारी सन्तान के काम आवेगी। अपनी भावी सन्तान के सुख का ध्यान रखना कुछ बुरा नहीं है। पर उसके साथ ही दूसरों को जीने न देना भी कोई अच्छी बात नहीं है। पीत वर्ण के कुछ लोग आस्ट्रेलिया, कनाडा और कैलिफोर्निया आदि देशों में जा कर बसने लग गये हैं जिसके कारण गोरों ने हाहाकार मचाना आरम्भ कर दिया है। कैसी अच्छी नीति है कि गोरे लोग अन्य वर्णों के लोगों को न तो उनके देश में ही रहने देना चाहते हैं। और न संसार की खाली और गैर-आबाद जमीन में ही बसने देना चाहते हैं। यह प्रश्न बहुत जटिल है और इसके इतने अधिक अंग हैं कि यदि उन सब का पूरा पूरा विचार किया जाय, तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ तैयार हो सकता है। इस प्रश्न का निपटारा भी सहज में नहीं हो सकता। निपटारे के केवल दो ही उपाय हैं। एक उपाय तो यह है कि गोरे कुछ समझदारी से काम लेकर सहनशील बन जायँ, और दूसरों को भी जीवित रहने का अवसर दें। और दूसरा उपाय यह है कि इस प्रकार के खाली प्रदेशों के लिए गोरों तथा अन्य वर्णों के लोगों में भीषण युद्ध हो। पहला उपाय जितना ही सात्विक और न्यायपूर्ण है, गोरों की प्रवृत्ति देखते हुए वह उतना ही असम्भव भी जान पड़ता है। आजकल की गोरी सभ्यता ही ऐसी है, जो सहनशी-लता को अपने जीवन के लिए विष समझती है और स्वार्थ-साधन को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानती है। यह तो एक ढंग की

बात है ही। दूसरी इससे भी बढ़कर दुःख की बात यह है कि उसकी यह नीति घातक और संक्रामक रोग की भाँति अन्यान्य वर्णों में भी फैल रही है गोरों ने इस समय मानों संसार के गुरु या शिक्षक का काम अपने हाथ में ले रखा है। इसीलिए अः सभी लोग उन्हीं की नीति का अवलम्बन करने का विचार करने लग गये हैं। और इसीलिये हमें यह कहना पड़ा है कि इस प्रश्न का निपटारा आगे चलकर शस्त्र-बल से ही होगा। और शस्त्र-बल का प्रयोग कितना भीषण तथा नाशक होता है, यह हम पहले ही महायुद्ध का वर्णन करते हुए बतला चुके हैं।

यह तो हुई धूसर तथा पीत वर्णों के लोगों की बात। रक्त वर्ण के लोगों का इन गोरों ने इतना अधिक नाश कर डाला है कि उनसे अब इन्हें किसी प्रकार का खटका ही नहीं रह गया है उनकी संख्या इतनी कम रह गई है कि वह नगण्य कही जा सकती है। हमें तो संदेह है कि सौ दो सौ वर्ष बाद संसार में उनका कोई चिन्ह बचा भी रहेगा या नहीं। लक्षणों से तो यही जान पड़ता है कि वर्णों में से एक वर्ण ही नष्ट हो जायगा। गोरी जातियों के प्रसार के इतिहास में यह बात रक्त के अक्षरों से लिखी जायगी कि उन्होंने एक बहुत ही सभ्य पर निरीह जाति का पूरा पूरा संहार कर डाला। यों तो गोरी सभ्यता पर अनेक प्रकार के कलंक हैं, पर यह कलंक कदाचित् सब से बड़ा माना जायगा। अब रह गये कृष्ण वर्ण के लोग। गोरों को उनसे इसलिए कोई विशेष भय नहीं है कि वे नितान्त असभ्य हैं। यदि कोई भय है तो केवल यही एक भय है कि एशिया के धूसर वर्ण के मुसलमान कहीं उन्हें धार्मिक जोश दिलाकर अपने पक्ष में न मिला लें। इस-

लिए कुछ लोग हब्शियों को ईसाई बना लेने का विचार कर रहे हैं। उनमें से बहुत से लोग तो ईसाई बन भी चुके हैं। पर केवल धर्मपरिवर्तन से ही सारी कठिनाइयाँ दूर नहीं हो सकतीं। यदि हम यह बात मान भी लें कि सारे हब्शी ईसाई हो जायँगे और इस प्रकार मुसलमानों के हाथ से निकल जायँगे, तो भी परिस्थि-की विकटता बनी ही रह जायगी। मान लीजिए कि सारा हब्शी संसार ईसाई हो गया। पर यदि उस पर गोरों का वैसा ही प्रभु-त्व बना रहा जैसा कि इस समय भारत अथवा अन्य देशों पर है, तो क्या वे केवल ईसाई होने के कारण ही गोरों के विरुद्ध किसी प्रकार का आन्दोलन न करेंगे ? इसलिए उनका केवल ईसाई हो जाना ही शांति का सूचक नहीं हो सकता। शांति के मार्ग तो कुछ और ही हैं जिनसे गोरों ने सारे संसार को बहुत दूर जा पटका है।

प्रश्न यह है कि क्या कभी सारे संसार में स्थायी शान्ति हो सकेगी अथवा उसमें इसी प्रकार सदा अशांति और असन्तोष का राज्य बना रहेगा। विवेक तो यही कहता है कि संसार का अंतिम उद्देश्य सुख और शांति है और मनुष्य के सारे उद्योग सुख तथा शांति की प्राप्ति के लिए ही होते हैं। परन्तु लक्षणों से जान पड़ता है कि वह सुख और शांति अभी बहुत दूर है जिसे लोग मानव-समाज का अंतिम उद्देश्य बतलाते हैं। कदाचित् उस सुख और शांति की प्राप्ति से पहले संसार को बहुत अधिक दुःख भोगने पड़ेंगे और भीषण अशान्ति में से होकर निकलना पड़ेगा। स्थायी सुख और शांति ऐसी चीजें नहीं हैं, जो सहज में प्राप्त हो सकें। उन्हें प्राप्त करने से पहले हमें उनका पूरा पूरा मूल्य देना पड़ेगा।

और वह मूल्य कदाचित् रक्तपात के रूप में होगा। पर यदि सब लोग अभी से यह मूल सिद्धान्त समझने लग जायँगे और सहनशीलता तथा न्यायपरायणता का परिचय दे सकेंगे, तो बहुत सम्भव है कि प्रकृति हमें वह सुख तथा शान्ति थोड़े ही मूल्य में दे दे। संसार के समस्त मनुष्यों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि जिस प्रकार हमें जीवित रहने का अधिकार है, उसी प्रकार और सब लोगों को भी है। जितने ही अधिक लोग इस सिद्धान्त का पालन करेंगे, उतना ही कम मूल्य हमें सुख तथा शान्ति का देना पड़ेगा। न्यायतः सभी लोगों को अपने अपने देशों में सुख तथा स्वतन्त्रता पूर्वक रहने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। यदि हम कोई बहाना निकाल कर इस सिद्धान्त का उल्लंघन करना चाहेंगे, तो पहले दूसरों की और बाद में अपनी हानि करेंगे। जो लोग यह चाहते हों कि सारे संसार में स्थायी शान्ति स्थापित हो, उनका पहला कर्तव्य यह होना चाहिए कि सब लोगों को सब राष्ट्रों को, सब जातियों को, सब देशोंको-सहनशील तथा न्याय-परायण बनाने का उद्योग करें। दूसरों के धन, दूसरों की सम्पत्ति तथा दूसरों की भूमि पर अधिकार कर लेने का परिणाम तो वही अशान्ति है, जिसका साम्राज्य इस समय सारे संसार में दिखलाई पड़ रहा है। यों तो इस अशान्ति का नाश करना सभी लोगों का समान रूप से कर्तव्य है, पर गोरों पर इसका उत्तरदायित्व इसलिए सबसे अधिक है कि वह इस अशान्ति के जनक हैं, और उन्हीं के हाथ में इसे दूर करने की सबसे अधिक शक्ति है। संसार के विचारशील लोग बड़ी ही उत्कंठा से देख रहे हैं कि गोरे अपने इस कर्तव्य का किस प्रकार पालन करते हैं। पर गोरों से निराश रहने के कारण

भी कम नहीं हैं। कदाचित् गोरों की संस्कृति में ऐसे तत्व ही नहीं हैं जिनसे शान्ति की सृष्टि होती है। वे तत्व एशिया में बसने वाली जातियों में ही पाये जाते हैं। इसलिए बहुत से विचारवान् एशिया से ही यह आशा रखते हैं कि जिस प्रकार वह पहले किसी समय सारे संसार का गुरु था, उसी प्रकार वह फिर सब का गुरु और शिक्षक बने। जब तक एशिया इस विषय में अग्रसर न होगा, तब तक इस प्रश्न की ठीक ठीक मीमांसा न हो सकेगी। ईश्वर करे, यह श्रेय एशिया ही सम्पादित करे। वह संसार से अशान्ति, अन्याय और अत्याचार का नाम मिटा दे और उनके स्थान पर शान्ति न्याय तथा प्रेम का राज्य स्थापित कर दे।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≡) सर्वसाधारण से ॥।)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १२२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १२६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मू० १) ग्राहकों से ॥।) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥।-)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएँ। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २२६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० -)॥। ग्राहकों से -)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं।

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश—पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार—पृष्ठ १५४ मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्रीरामदास गौड़ एम० ए०] पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई १६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे जमाने की गुलामी (टाल्सटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १२० मू० ।−) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥|−) ग्राहकों से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग २०० मू० ।) ग्राहकों से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।−) ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ठ सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥−) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।−)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्म्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।−)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।−) ग्राहकों से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की उन्नति का इतिहास है। प्रत्येक भारत-वासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ २६६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।−)

प्रथम वर्ष में १७१२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं